

आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया से परिवर्तन

कल्पना करें कि एक स्थान पर अफिम पषी हुई है और बच्चा उसके स्वाभाविक रूप से उठ लेता है बच्चे पर विश्वास इसलिए नहीं करते कि बच्चा भद्रिक-नादान होता है। वह अफिम को खा लेगा। वह अफिम बाहर है तब तक तो कुछ नहीं, लेकिन मुंह और पेट में चली गई तो प्राण चले जाएंगे। मां-बाप सावधान होते हैं तो अफिम बच्चे के हाथ से छीनने की कोशिश करेंगे और उसके खाने नहीं देंगे। खाने की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से बन जाती है क्योंकि उसके शरीर की संरचना कुछ इस प्रकार की है कि जिसके कारण उसके खाना ही खाना सूझता है बच्चा यह नहीं देखता कि क्या खाऊं और क्या नहीं खाऊं? बच्चे के सामने जो भी चीज आती है वह उसके खाने की चेष्टा करता है। जब तक उसकी अवस्था बचपन की है तब तक वह स्वभाव के अधीन होकर खाता है और अफिम खा लेता है तो अपने प्राणों को नष्ट कर देता है। तो यह अपराध बच्चे का है या अफिम का है? आप बारीकी से सोचेंगे तो यही नतीजा निकलेंगे कि अपराध अफिम का नहीं है। यदि वह जबरदस्ती उठकर बच्चे के पेट में चली जाती तो अफिम का अपराध होता है। यह अपराध बच्चा करता है जो अफिम को खा जाता है।

यह बात दूसरी है कि बच्चा अफिम को नादानी में खाता है वह अफिम खा लेता है और अफिम के पेट में जाने पर बच्चा छपटने लगता है तो मां बाप कहेंगे कि क्या करें, अफिम ने बच्चे को कष्ट दे दिया। यही हालत आत्मा की है। आत्मा कोई पाप कार्य करती है तो वह या तो दिन के काल चक्र में करेगी या रात्रि के काल चक्र में और वह धर्म करना चाहेगी तो भी इन्हीं काल चक्रों में करेगी। काल वही है लेकिन उस काल में यदि बुरा कर्म किया तो बुरे कर्म का बुरा फल अवश्य मिलेगा। अब कह देंगे कि काल ने फल दिया, लेकिन काल क्या देगा? कर्म बंधने के बाद फल इसलिये

देगा कि उसकी अवधि है। अवधि समाप्त होती है तो फल प्रकट हो जाता है वह फल शरीर पर किसी कष्ट के रूप में प्रकट होगा तो उसका अनुभव आत्मा करेगी। यह उस फल की प्रक्रिया है

लेकिन इन कर्मों के फल की प्रक्रिया स्वतः नहीं होती है। चैतन्य कर्मों को ग्रहण करता है तब फल रूप प्रक्रिया प्रकट होती है चैतन्य भी अपने अच्छे या बुरे कार्य समय में ही करता है, अतः समय की स्थिति को समझने की आवश्यकता है समय को अच्छा बनावे या बुरा बनावे यह आत्मा पर ही निर्भर है। अच्छा या बुरा बनाने का उपाय भी आत्मा के ही हाथ में है। यही मूल में आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया है कि आत्मा अपनी क्षमता को समझ जावे क्योंकि जब आत्मा अपनी क्षमता को समझ लेती है तो वह अवस्था परिवर्तन का भी पुरुषार्थ करती है। बुरे कर्मों का बंध किया तो फल रूप कष्ट को भुगतना पड़ेगा। यही भुगतना आर्त-रौद्र ध्यान से होता है तो और कर्मों का बंध होता है लेकिन यही भुगतना अगर ज्ञान के साथ हो तो वह पुराने कर्मों को क्षय कर लेती है और नये कर्मों का बंध नहीं होता है। यह जो अवस्था का परिवर्तन है, वह आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया से ही होता है। इसी पुरुषार्थ के बल पर अशुभता की समाप्ति तथा शुभता की संरचना की जा सकती है।

आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया

एक माता अपनी सन्तान को जन्म देती है उसे वह नौ माह तक गर्भ में रखती है तथा ममत्व भाव के साथ रखती है गर्भस्थिति में आत्म विवेक के सारे माध्यम धीरे-धीरे सजग बनते जाते हैं उस समय में माता को समय पहचानना चाहिये कैसे पहचानना ? यह कि इस समय बालक की इन्द्रियां सजगता पकड़ रही है तो उस समय में उस को श्रेष्ठ संस्कार दिये जाये। यह तो हुआ समय को पहचानना और समय को पकड़ना इस तरह होगा कि अपने जीवन की सम्पूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों द्वारा एवं वातावरण के माध्यम से गर्भस्थ शिशु पर शुभ संस्कार डलाने का कार्य आरंभ कर दिया जाये।

और बेमान अवस्था में फँसे रह कर अपने तथा आने वाली पीढ़ी के जीवन को विकृत बना दें तो यह अपर्याप्त काम निवृत्त नहीं है। समय को समय पर समझते नहीं और फिर समय को अशुभ बताकर अपनी अज्ञानावस्था को छिपाने का जो प्रयास किया जाता है वही मूल में चारों ओर के पतन का कारण बनता है। इस जीवन में उस शक्तिका यथासमय विकास किया जाना चाहिये जो समय को पहचानने तथा पकड़ने का विकसित जग सके एवं आत्म पुरुषार्थ की सद्प्रवृत्तियों को संचालित बना सके।

समय को नहीं समझते तो आत्म पुरुषार्थ निष्क्रिय रह जाता है।

किसान समय पर खेती करता है तो उसे सफलता मिलती है यानि कि बरसात बरसने के साथ ही वह अपने पुरुषार्थ को खेती में लगाता है तब सारा काम बनता है। यदि कोई समय को ही नहीं समझे तो उसका आत्म पुरुषार्थ या तो निष्क्रिय रह जाता है या निष्फल हो जाता है। बरसात बरसती रहे और किसान खेती में पुरुषार्थ करे ही नहीं तो उसका पुरुषार्थ निष्क्रिय रह जाता है तथा भर गर्मी में खेती में बीज बोने का वह पुरुषार्थ लगा दे तो समय को नहीं पहचान पाने के कारण उसका पुरुषार्थ निष्फल चला जायेगा। यही आत्मा के साथ और इसी जीवन के साथ भी लागू होता है।

माता यदि अपने गर्भ के समय को नहीं समझती है तो बालक को शुभ संस्कार दे सकने के अपने पुरुषार्थ को भी नहीं जगा पाती है। इसका बुरा परिणाम यह होता है कि गर्भावस्था में ही बालक कुसंस्कारों का शिकार बन जाता है और उस बालक के जन्म लेने तथा बढ़े होने पर वे कुसंस्कार जब फूटते और फलते हैं तो वे संस्कार सिर्फ बालक को ही नहीं, माता-पिता को भी संकट में डाल देते हैं।

जोधपुर का एक पहले का किस्सा है। उस वक्त महाराज विजयसिंह जी राज्य करते थे। उसके राज्य में प्रजा को कई सुविधाएँ प्राप्त होने से वह सुखी थी। उन्होंने समय को पहचान कर अपने

रुज्य में सर्वा सुखवस्था स्थापित की। समय को सार्थक कर पाना शुभ भावना से ही संभव होता है और वैसा प्रयास ही आत्मा के लिये हितावह होता है। समय का दुरुपयोग तब होता है जब कार्य विधि में स्वार्थका समावेश हो जाता है। उस समय ऐसा प्रसंग बना कि एक विधवा बहन ने सारी संपत्ति अपने पुत्र पर लगा दी और जब वह क्रुद्ध हो गई तो उसका पुत्र कुसन्तान के रूप में ढलने लगा। उसको देख-देख कर वह आर्त-रौद्र ध्यान करती और नये-नये कर्म बांधती। वह पुत्र को कुछ कहती तो पुत्र उद्धता से जवाब देता। आखिर पक्षेसुन की सलाह से वह महाराजा के पास गई और उसने अपना दुख उनको सुनाया। महाराजा ने अनुसर भेजकर पुत्र को भी बुला लिया और उससे क्रुद्ध माता की सेवा के बारे में पूछा। वहां भी वह अंशुं बोलने लगा कि नौ माह गर्भ में रखा है तो नौ क्लेशों के ले लो। महाराजा ने उसको शिक्षा देने की नियत से एक गर्भस्थ बालक के वजन जितनी मिट्टी मंगाई और उसको गीली कर कर उसके पेट पर पड़े-से कस कर बांधवा दी। अब ज्यों-ज्यों मिट्टी सूखने लगी तो उसकी नसें खिंचने लगी। अब वह घबरा देने लगा। महाराजा ने कहा तुमहारी मां ने तुमको नौ महीने पेट में रखा और इस मिट्टी को तुमहारे पेट के ऊपर बांधे हुए तो नौ घंटे भी नहीं हुए हैं। कम से कम 27 घंटे पल्ल बांधा रहेगा तो तुमको भाइ मालूम हो जायेगा। खैर उस पुत्र ने क्षमा मांगी। लेकिन ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि माता ने उस समय को नहीं समझा और अपने आत्म पुरुषार्थ को निष्रिय बनाये रखा। यह उसी का अशुभ फल था। अब उस काल को अशुभ बताना कहाँ तक उचित है ?

आत्म पुरुषार्थ को सत्रिय रखो

आत्म पुरुषार्थ को सत्रिय वहीं रखते हैं- उस की प्रविद्याओं को सम्यक् रूप से संचालित नहीं करते हैं तो समय अशुद्ध और अशुभ बन जाता है। इसी लिये भगवान् ने कहा है- हे भव्यों, यह मुहुर्त घोर बन गया है क्योंकि तुमने मुहुर्त (समय) को बुरा बना

दिया। इस कारण वह अशुद्ध बन गया अशुभ हो गया और तुम्हारे विपरीत बन कर तुम्हारे लिये अशुभ फल वाला हो गया है। तुम्हारा शरीर अबल है उस पर यह समय प्रहार करता है तो तुम अपने जीवन को और अधिक अशुभ बना लो हो। अतः आत्म पुरुषार्थ को सचिन्त रखो तथा समय को अशुभ तथा अशुद्ध मत बनाओ।

मनुष्य यह सोचता है कि आत्म विकास के काम को आज नहीं, कल कर लूंगा। वह कल पर विश्वास करता है तो उस संदर्भ में ही कल के काल पर विश्वास नहीं करने का निर्देश दिया गया है। अब्दुल कलम आज और अभी करें तथा आत्म पुरुषार्थ को सजग बनाये रखें।

(दि. 6-9-77)

वह कभी बढ़िया वस्त्रों की तरफ मुड़ती है तो कभी मिष्ठान्न भोजन को ग्रहण करके अपनी तृप्ति करना चाहती है कभी शृंगार सजा कर तो कभी यशकीर्ति के हार पहन कर वह तृप्ति का आनन्द लेने की चेष्टा करती है। कभी वह नवीन खोज की दिशा में आगे बढ़ती है और नवीन-नवीन पदार्थों का परीक्षण करने में लग जाती है ये सारे प्रयत्न इस चेन की उस अन्तरात्मा की भूख के परिचायक हैं। इसको इस भूख से तृप्ति अवश्य चाहिये, लेकिन जो चाहिये वह वास्तव में उसके मिल नहीं पा रहा है।

प्रभु ऋषभदेव जब अपने राज्य तथा विशाल कैभव का परित्याग करके मुनिव्रत को अंगीकार करते हुए चले तो वे जनता के बीच में होकर घरों में पहुंचने लगे। उन्हें ने युगलिया जनता को कर्म का मार्ग दिखला दिया था और अब धर्म का मार्ग दिखला रहे थे। प्रभु को भी चाह थी लेकिन उनकी चाह साधारण व्यक्तियों की चाहों से सर्वथा भिन्न थी। साधारण व्यक्ति अपनी चाह के पीछे बेभान बन जाता है—अपने होश को खो देता है, वहां ऋषभदेव सत्यज्ञान एवं पूर्ण जागृति के साथ चल रहे थे। चाह की पूर्ति के लिये शरीर को भी वे अपनी साधना का अंग मान रहे थे। उनकी उस आध्यात्मिक वृत्ति को जनमानस समझ नहीं रहा था। लोगों की तब तक जैसी समझ पनापी थी, उसी के अनुसार वे सोच रहे थे।

सारे जगत् का उद्धार करने वाले तथा सब को सुखी बनाने वाले वे दिव्य महापुरुष दीक्षा लेकर सबको धर्म का मार्ग दर्शा रहे थे। पैरों में जूतियां नहीं और शरीर पर कोई वस्त्र नहीं—सिर पर मुकुट भी नहीं। वे अपने महाराज को बड़े आश्चर्य से देखते और अपनी-अपनी समझ से उनकी सेवा करना चाहते थे तो राजकीय कैभव छोड़ कर आत्मार्थी बन गये थे। इसीलिए साधना के कठोर मार्ग पर चल रहे थे। लेकिन जो नहीं समझता था, वह सोचता कि ये पैदल इस कारण चल रहे हैं कि इनको वाहन चाहिये और वह वाहन ले आता और उनको वाहन पर बैठने का आग्रह करता कोई वस्त्राभूषण लाता है तो कोई और कुछ। जब ऋषभदेव इन पदार्थों को छोड़ कर चले जाते

तब लोग सोचते कि इन्हें इन पदार्थों की चाह नहीं है। ये मुनि बन गये हैं और इनकी अब कोई दूसरी चाह है। तब वे मुनि जीवन और उसकी कठिन साधना को समझने लगे और कर्म के बाद धर्म की जानकारी प्रभु के जीवन से लेने लगे। रंग-बिरंगी चाहों के बाद उन्हें शुद्ध श्वेत चाह का भी ज्ञान होने लगा। उनकी भी चाह होने लगी कि वे भगवान् ऋषभदेव के आध्यात्मिक मार्ग को निर्ग्रन्थ मार्ग को समझें तथा उसका अनुसरण करने की तरफ आगे बढ़ें।

निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का प्रभु के हाथों शुभारंभ

प्रभु ऋषभदेव के हाथों जो त्यागमय संस्कृति विख्यात हुई उस निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का मार्ग कठिन है वह स्वयं के आत्म बल पर निर्भर रहती है। उन्होंने अबोध लोगों को समझाया-हाथी पर बैठने से निर्ग्रन्थ धर्म साधना नहीं होती है उससे एक ओर हाथी का उत्पीड़न होता है तो दूसरी ओर से आत्मा प्रमाद के वशीभूत होती है। जो हाथी, घोड़ा, रथ या अन्य प्रकार के वाहन उस समय में प्रचलित थे उनका प्रचलन भी तो उन्होंने ही शुरू किया था। आज कोई यह कह सकता है कि हाथी और घोड़े का उत्पीड़न होता है तथा उस समय कार, रेल या हवाई जहाज का अविष्कार नहीं हुआ था करना, आज इन वाहनों का प्रयोग करने में साधु को क्या हर्ज है वाहन वे भी थे और वाहन ये भी हैं। वाहन का प्रयोग नहीं करने का अर्थ आत्मा को अप्रमत्त बनाना है।

वैसे हिंसा की दृष्टि से ही पहले के वाहनों के साथ आधुनिक वाहनों की तुलना करें तो आपके स्पष्ट ज्ञात होगा कि कार, रेल, हवाई जहाज आदि वाहनों से भारी हिंसा होती है और इनसे दुर्घटनाग्रस्त हो जाने की दिशा में तो हिंसा का तांझ दिखाई देता है। इस तरह आपके ये आधुनिक वाहन अधिक हिंसाकारी, महा आरंभकारी, और जीवन को अधिक परतंत्र बनाने वाले हैं। इन वाहनों के प्रयोग में हिंसा भी अधिक है तो प्रमाद भी अधिक है और ये दोनों आत्म स्वस्थ को मलिन बनाते हैं।

ऋषभदेव को जन्म से तीन ज्ञान थे—मति ज्ञान, श्रुति ज्ञान और अवधिज्ञान तथा दीक्षा लेने के बाद मनःपर्याय ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो गया। इन चारों ज्ञानों की निर्मलता तथा भविष्य की दीर्घ दृष्टि के साथ उन्होंने साधुधर्म का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने इसी दृष्टि से वाहन ग्रहण नहीं किया। उनके वाहन की भूख न थी, उनकी भूख कुछ दूसरी ही थी। उनके समान साधुधर्म अंगीकार करते चलने वाले आज के निर्र्थों को किसकी भूख है? अगर वे वाहन की इच्छा रखें, वाहन जुट कर चलें और कर, वायुयान आदि का प्रयोग करें तो क्या उन्हें निर्र्थ कहेंगे? क्या वे वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन के साधक रहेंगे? क्या वे अपने साधना मार्ग को समझ रहे हैं? भद्रिक जनता कुछ नहीं समझ पाती।

भगवान् ऋषभदेव के युग में जिस प्रकार की भद्रिक जनता थी, उसमें कुछ और ही भद्रिकता थी और आज की जनता में कुछ और की भद्रिकता है उस समय के लोग ऋजुपद्म, सरल और सीधे-साधे थे और आज के लोग वक्र और ढें हैं। आज की जनता सोचती है कि सबको प्रचार की भूख सता रही है। भगवान् महावीर और अन्य तीर्थकरों की वाणी का प्रचार करने के लिए साधु लोग वाहन पर बैठें हवाई जहाज में ऊँ आरंभकारी यंत्रों के काम में लें और उनके सहारे वे धर्म का प्रचार प्रसार करें—इस प्रकार की भूख को सही बतलाने की चेष्टा आज की जा रही है।

निर्र्थ श्रमण संस्कृति के स्वरूप को विकृत बना कर कोई उसका प्रचार करना चाहे तो क्या वह श्रद्धवान् प्रचारक कहलाएगा? यह संस्कृति पूर्णतः त्याग पर आधारित है और त्याग का आश्रय लेकर ही आचार के अनुसार इसका प्रचार किया जाये तो वही प्रभावशाली हो सकता है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या इस प्रकार से प्रचार के नाम पर अपनाई जाने वाली ऐसी प्रवृत्तियों के पीछे प्रचार की ही भूख है?

क्या यह धर्म के नाम पर स्वार्थ की भूख नहीं है?

मैं सोचता हूँ कि यह वस्तुतः धर्म प्रचार की भूख नहीं है। शायद इस धर्म प्रचार को एक भूलभूलैया बना दिया गया है कि जिसकी आड़ में अपने स्वार्थ की भूख दूर करने की चेष्टा की जा सके। यह तो स्वयं धर्म के लिये एक संक्रामक रोग बन गया है। ऐसे प्रचारक या ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देने वाले लोग न तो धर्म के शुद्ध स्वरूप को समझते हैं और न ही निर्धन श्रमण संस्कृति को समझते हैं। वे प्रायः बेहोशी में चल रहे हैं। मूर्ख की अवस्था में इन्सान कुछ भी करता है उसको उसका भान नहीं होता है और इस प्रकार बेभान चलने वाले भले ही वे गृहस्थ हो या साधु की पोषाक पहन कर साधु कहलाते हैं, लेकिन उनकी सारी प्रवृत्ति निर्धनता के अनुकूल नहीं है। गृहस्थ भी कुछ ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उनकी उस निर्धनता का अभाव उनको देखता नहीं उन को खलता नहीं। बस महाराज की बड़ी कृपा है उन महाराज को मस्तिष्क की कला से सुन लिया और सब कुछ हो गया। फिर महाराज के बिछौने गृहस्थ कर दें, सारा काम वहीं हो जाये, रसोई बन जाये, वे महाराज जीमलें फिर भी वे महाराज बने रहें—यह इस युग की देन है। यह भगवान् महावीर द्वारा निर्देशित साधु आचार की देन नहीं है।

यह विक्रम स्थिति आज के जनमानस में चल रही है और सबकी भावना में यह रोग व्याप्त हो रहा है कि दूसरों को सुधारें तथा धर्म का प्रचार प्रसार करें लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि स्वयं को सुधारें बिना दूसरों को क्या सुधारेंगे। यह भी नहीं जानते कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है। वे धर्म के नाम पर या धर्म की आड़ में या धर्म के प्रचार प्रसार के बहाने अपने स्वार्थ की भूख को मिटाना चाहते हैं और स्वयं गुलछरें उड़ना चाहते हैं। वे इस रूप में अपनी पांवों इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति करना चाहते हैं तथा स्वयं के आन्तरिक गन्दे जीवन को प्रकरान्तर से भोगना चाहते हैं। सही दृष्टिकोण उनके सामने नहीं है तथा दुनिया भी इस तरह गुमराह होकर चल रही है। यदि कई दृष्टियों से देखा जाये तो यह निष्कर्ष

निकलता है कि दुनिया को भी वास्तविक धर्म की भूख कम है और अपने स्वार्थों की भूख ज्यादा है दुनिया भी अधिकतर स्वार्थ के पीछे चलती है। उसमें कभी-कभी अपने पापों को छिपाने की भी भूख होती है। इस जीवन में बहुतेरे पाप एकत्रित हो जाते हैं और स्वयं को भान होने लगता है कि मेरे इतने पाप हो गये-मैं इतना पापी बन गया जिन्हें मैं तो जानता ही हूँ लेकिन पक्षेसी जान लेंगे समाज वाले जान लेंगे तथा बाहर के व्यक्ति जान लेंगे तो क्या कहेंगे कि समाज के अगुआ लोगों ने इतने पाप कर जले? इसलिये उन पापों पर पर्दा डाल दिया जाये ताकि दुनिया उन्हें देख नहीं पाए-मैं भले ही अन्दर का अन्दर अनुभव करता रहूँ पर्दा डालने का वह कपड़ा कैसा है? आधुनिक परिवेश में यह कपड़ा धर्म प्रचार का बन गया है वे तथाकथित प्रचारक कहते हैं कि धर्म का प्रचार नहीं करेंगे तो आगे कैसे बढ़ेंगे? लोग भी कह देते हैं कि धर्म का प्रचार इस देश में ही क्या-विदेशों में भी करना चाहिये। सब साधन जुट लिये जाते हैं और महाराज अपने साधु आचार को ताक में रखकर धर्म प्रचार करने के लिये निकल जाते हैं। इस तरह पर्दे तैयार हो जाते हैं। वे अपने निजी जीवन को नहीं देखने देने की स्थिति तैयार कर लेते हैं ये सारे पर्दे हैं जिनको दुनिया नहीं देख रही है।

श्रमण संस्कृति का स्वस्व अत्यन्त भव्य है

मैं ऋषभदेव प्रभु की बात कह रहा था। उन्होंने श्रमण संस्कृति का भव्य स्वस्व प्रस्तुत किया था, जो मर्यादा मय, त्याग मय एवं धर्म मय था। उस समय के वाहन आज के वाहनों की तुलना में हिंसा की दृष्टि से हल्के थे, फिर भी उन्होंने उन वाहनों का भी त्याग कर दिया। तब जनता को सहज ज्ञान हो गया कि जो साधु बनता है वह हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि किसी वाहन को काम में नहीं लेता है। साधु अपने पैरों पर ही चलता है, कितनी ही सर्दियाँ गर्मी हो, वह अपने पैरों पर किसी तरह का आवरण भी नहीं चढ़ता है।

आगे जाते-जाते भगवान् ने श्रेयांस कुमार के हाथ से प्राप्त गन्धेक रस ग्रहण किया तब लोगों को जानकारी हुई कि सन्तों को शरीर के निर्वाह के लिये भोजन की भी आवश्यकता होती है लेकिन वे देश रहित आहार ही ग्रहण कर सकते हैं यद्यपि उनके भूख की तिलमिलाहट नहीं थी किन्तु उन्हें साधु आचार की कई तरह की मर्यादाओं की प्रतिष्ठा करनी थी। प्रत्येक प्रकार से उन्होंने श्रमण संस्कृति के भव्य स्वरूप की प्रतिष्ठा की ओर उसका वह भव्य स्वरूप आगे के तीर्थकरों से पुरा होता हुआ भगवान् महावीर केशासन में आज सबके सामने उपस्थित है प्रश्न है उस भव्य स्वरूप की रक्षा करने का क्योंकि अगर किसी भव्य स्वरूप को कोई जानबूझ कर विकृत बनाता है तथा कोई उसको विकृत किये जाते हुए अवश होकर देखता रहता है तो दोनों समान रूप से अपराधी कहे जायेंगे।

प्रतिष्ठित श्रेष्ठ संस्कृति की रक्षा का दायित्व महान् होता है और यह श्रमण संस्कृति तो अत्यन्त ही भव्य है क्या इसको विकृत बनाने के प्रयासों को निश्चेष्ट बनकर सहन किया जाता रहेगा? और ध्यान रखिये कि क्या उसकी रक्षा अतिक्रम से की जा सकेगी? तिक्रम वैसा और अतिक्रम वैसा इसका ज्ञान इस रूपक से लीजिये प्राचीन काल में एक गुरुकुल में अध्ययन-अध्यापन होता था। एक बार दो अध्यापक भोजन की तैयारी कर रहे थे तथा दो छात्र भी बैठे हुए थे दो कचेरियों में अध्यापकों ने दही मंगाया और उन कचेरियों के सम्बन्ध में दोनों छात्रों को यह निर्देश देकर स्नान करने के लिये चले गये कि कचेरियों दधि रक्षताम् अर्थात् दोनों छात्र दोनों दही की कचेरियों की कौओं से रक्षा करें।

दोनों छात्रों ने इस निर्देश का अलग-अलग अर्थ पकड़ा। पहले ने निर्देश के पहले अंश पर जोर दिया कि दही की कौओं से रक्षा की जाये। दिमाग में कचेरियः शब्द घूमा। उसने कौओं को कचेरी में चोंच भी नहीं डलने दी, लेकिन बाहर से बिल्ली आकर दही चाखने लगी तो उसने उसको नहीं रोका, कारण गुरुजी ने कौओं से रक्षा

करने का निर्देश दिया था। दूसरे छत्र ने उसी निर्देश के पिछले अंश को प्रमुख माना कि दधि रक्षताम् याने कि दही की रक्षा की जाये चाहे कोई आवे, बिल्ली आवे या और कोई आवे, उससे उस दही की रक्षा की जानी चाहिये। उसने दही की रक्षा करली। दोनों अध्यापक वापिस लौटते तो उन्हें मालूम हो गया कि किस छत्र में रक्षा करने का कैसा विवेक था? रक्षा तो दोनों करना चाहते थे लेकिन एक के पास अविवेक था तो वह रक्षा नहीं कर सका तथा दूसरे ने विवेक रखा तो उसने दही की रक्षा करली।

क्या सभी श्रमण संस्कृति के अनुयायियों को इस अमूल्य संस्कृति की रक्षा करनी है? अब रक्षा कैसे करनी-विवेक से या अविवेक से? रक्षा की भावना होगी, फिर भी यदि अविवेक रखा तो संस्कृति की रक्षा नहीं होगी। रक्षा की भावना भी रखें तथा विवेक भी रखें तभी इस संस्कृति के भव्य स्वरूप की समुचित रूप से रक्षा हो सकेगी।

संस्कृति की रक्षा अप्रमत्त भाव से

अपने जीवन में से प्रमाद को छोड़ो तथा अप्रमत्त अवस्था की तरफ गति करें तभी भव्य श्रमण संस्कृति की रक्षा भी हो सकेगी तथा आत्मा का विकास भी साध सकेगा। अप्रमत्त भाव प्रधान रूप से विकसित बन जाना चाहिये संस्कृति की रक्षा का अभिप्राय सामान्य नहीं है अति गूढ़ है भगवान् ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थकरों ने कृष्ण-साधु बने हो तो तुम्हारा पहला महाव्रत अहिंसा का है, उसकी पूर्णतः रक्षा करना। प्रथम महाव्रत में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्राणी की रक्षा का प्रसंग है। चाहे वह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति कया का जीव हो अथवा चलता फिरता बेइन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक का जीव हो, उसकी किसी भी रूप में मन से, वचन से और कया से साधु हिंसा करे नहीं, करावे नहीं तथा करने वाले का अनुमोदन नहीं करे यह उपदेश है भगवान् का किन्तु इस पर आचरण कैसे किया जा रहा है ?

कई लोग यह तर्क देते हैं कि पहले के समय में विद्युत् का तथा भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक सुविधाओं का आविष्कार नहीं हुआ था इसलिये भगवान् के वचन में उनका निषेध नहीं है आज के जमाने को देखते हुए साधु मार्ग पर बोले या वाहनों का प्रयोग करले तो वह उचित होगा। लेकिन यह तर्क ही उचित नहीं है तीर्थकर सर्वज्ञ थे, वे विद्युत् के ज्ञाता थे। फिर भी उन्होंने साधु आचार की जो मर्यादाएं प्रतिष्ठित की उनका मर्म आत्म विकास के साथ जुड़ा हुआ है कि आत्मा की अप्रमत्त अवस्था का विकास हो। आज के जो तर्क हैं वे कजह तर्क हैं जिनमें मर्म को समझने की जिज्ञासा कम तथा सदाचार को काटने की दुर्बुद्धि अधिक होती है। यह पंचम काल की स्थिति है।

अप्रमत्त भाव से ही आत्मा का विकास होगा और सुसंस्कृति के प्रकाश में होगा तथा अप्रमत्त भाव से ही उस सुसंस्कृति की भी रक्षा की जा सकेगी। सुसंस्कृति की रक्षा भी स्वस्थ आत्मा ही कर सकती है-पर तत्वों में भटकने वाली आत्मा नहीं।

आत्मा की वास्तविक भूख क्या ?

प्रार्थना की पंक्तियों में आत्मा की तृप्ति के लिये संकेत हैं- उसकी वास्तविक भूख का उल्लेख है। आत्मा को इन सांसारिक एवं भौतिक पदार्थों से तृप्त होने का यदि प्रसंग होता तो आत्मा कभी की तृप्त हो जाती- उसको कभी का सन्तोष मिल जाता। वह स्थायी शान्ति में भी समाग करने लग जाती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है आज जितनी संसारी आत्माएं हैं वे कर्मबंधन से युक्त हैं- छद्मस्थ अवस्था में चल रही हैं। जिनको सही भान नहीं हुआ है उन आत्माओं से पूछिये क्या आपकी तृप्ति हुई आपके शान्ति मिली ? किससे पूछें ? आप अपने से पूछिये और अपना अनुभव बताइये।

आप कैभव के साथ अपने जीवन को लेकर चल रहे हैं। कईयों के पास धन, वाहन तथा सुख साधन पर्याप्त मात्रा में हैं। इन सबको भोगते हुए क्या आपको सच्चा सुख मिला ? आप अपने अन्तः

करण को टोल कर बतावें आप यही कह रहे हैं कि आपको सुख और सन्तोष नहीं है और तो दूर रहा परिवार के सदस्यों से भी सन्तोष नहीं है—माता से भी सन्तोष नहीं है बल्कि अपनी धर्मपत्नी से भी सन्तोष नहीं है। भूख वैसी ही चल रही है। यह क्यों? इसका कारण यह है कि आत्मा की वास्तविक खुशक कुछ और है तथा उसके खुशक कुछ और ही दी जा रही है। इसलिये उसकी भूख बनी हुई है आत्मा यदि अपनी वास्तविक भूख को नहीं समझेगी तो जैसे अनादि काल से भूख बनी हुई है, वैसे आगे भी भूख बनी रहेगी। वह इन बाहरी साधनों से तृप्त होने वाली नहीं है।

भूख से तृप्ति को प्राप्त करने के लिये आत्मा को अपने अन्तःकरण में देखना है विकेक दीपक जलाना है और महावीर प्रभु की वाणी को सतत जागृति के साथ ध्यान व आचरण में रखना है। क्या सुना रहा हूँ महावीर की वाणी? गाथा ध्यान में है न?

सुते सुयावि पङ्क्तिद्रुजीवी, नो विससे पंडिअ आसुपणे।

घोरमुह्ता अबलंसरीं, भांडपक्खी वचरेपमणे।

उतर- 4/6

गाथा छोटी लेकिन अर्थ महान् है। आप भावों को पकड़े तथा अपने अनुभव को देखें कि आप अपने जीवन में प्रतिक्षण क्या कुछ कर रहे हैं? आत्मा सतत जागृत है अथवा नींद में सोई हुई है? वह जागृत है तो उसकी जागृति कैसे चल रही है—प्रमाद के साथ अथवा अप्रमत्त भाव से? प्रमाद है तो सतत जागृति नहीं रह सकती है तथा प्रमाद का परित्याग सतत जागृति के बिना संभव नहीं। आत्मा प्रतिक्षण जागृत रहती है तभी वह अपनी अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर सकती है। आत्मा की वास्तविक भूख है कि वह अपने स्वस्थ का उच्चतम विकास करे—परमात्म स्वस्थ का करण करे और उसकी यह भूख सतत जागृति तथा अप्रमत्त अवस्था से मिट सकेगी, क्योंकि प्रमाद नहीं होगा तो उसका उस दिशा में किया जाने वाला प्रत्येक पुरुषार्थ फलीभूत बनेगा।

यही सबसे बड़ा प्रमाद है। दीखता ऐसा है कि श्रोता कत्त को एकटक देख रहा है और ऊपर से प्रमाद मालूम नहीं पड़ता है लेकिन ज्ञानी कहेंगे कि वह प्रमाद अवस्था में चल रहा है जो स्वयं की आन्तरिक भूख को नहीं पहचानता तथा उससे तृप्ति के प्रयास प्रारंभ नहीं करता, वह प्रमादी है और प्रमादी है तो सोया हुआ है चाहे वह ऊपर से जागता हुआ दिखाई देता हो। लेकिन जो निज की आन्तरिक भूख को जानता है तथा उस भूख को मिटाने का अथवा पुरुषार्थ करता है वह अप्रमाद है निरन्तर जागता है चाहे वह पांचों इन्द्रियों की दृष्टि से सोया हुआ हो। सोते भी जागती हुई ऐसी अप्रमाद आत्मा ही प्रतिबुद्धजीवी कहलाती है।

सोते हुए जागना जागते हुए सोना

ऐसी होती है प्रतिबुद्धजीवी अप्रमाद आत्मा जो सोते हुए भी जागती है उसके आन्तरिक अनुभावों में स्थायी स्वप्न से जागृति का निवास हो जाता है। जागृति होती है तभी इस आत्मा में अप्रमादता आती है और अप्रमादता आती है तो सतत जागृति साधना रत रहती है जहां प्रमाद है वहां जागरण नहीं तो एक प्रमादी आत्मा जागते हुए भी सोती है। अप्रमाद अवस्था का सम्बन्ध बाहर की जागृति से नहीं, भीतर की जागृति से होता है जो भीतर से जागृत होता है वही सतत जागृत रहता है तथा वही अप्रमाद और प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है।

ऐसे ही प्रतिबुद्धजीवी को भगवान् ने सम्बोधन दिया है कि काल पर विश्वास मत करो। जिन अनन्त ज्ञानियों ने अनुभव किया है उसी अनुभव को उन्होंने बताया है। उन्होंने अनन्त योनियों में अनादिकाल से अनुभव किया कि संसार के उपद्वय विश्वसनीय नहीं है। इनसे आत्मा की तृप्ति होने वाली नहीं है फिर भी आत्मा इसमें बहकी रहती है इसलिए प्रतिबुद्धजीवियों को आत्म स्वस्थ के अनुमूल खुशक जुटनी चाहिये। वह खुशक क्या है—इसकी पहचान करनी चाहिये। आत्मा की खुशक जिस रोज से आत्मा को मिलने लगेगी,

उसी रेज से ध्यान रखिये कि शान्ति मिलने का भी श्रीगणेश हो जायेगा। वह कब मिलेगी—इसका सिद्धान्त उसमें है लेकिन उसको समझने की आवश्यकता है एक द्रव्य निद्रा में सोता है और दूसरा भाव निद्रा में सोता है तथा तीसरा द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की निद्रा में सोता है ऐसे तीन श्रेणियों के व्यक्ति आपको इस दुनिया में मिल सकते हैं जिन को आत्मा की वास्तविक रक्षक का ज्ञान नहीं है वे दोनों प्रकार की निद्राओं में सोये हुए हैं। जिनको आत्मा की वास्तविक रक्षक का ध्यान है उनके लिये कहा जायेगा कि वे भाव निद्रा से जागृत हैं ऐसे भाव जागृत व्यक्ति गृहस्थ अवस्था में भी हो सकते हैं परन्तु गृहस्थ अवस्था में भी उनके जीवन के प्रयोग अन्य गृहस्थों से भिन्न होंगे। जिनको आत्मा की वास्तविक रक्षक का ध्यान भी है और जिनकी समस्त कृतियां तथा प्रकृतियां उस रक्षक को जुटने के पुरुषार्थ में भी लगी हुई है वे द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की निद्राओं से जागृत कहलाते हैं चाहे वे द्रव्य निद्रा में सोते भी हैं उनकी चेतना, ज्ञान, उनकी आत्मा सतत जागृत रहती है।

शान्ति सुधारस का पान

सतत जागृति का अर्थ है अप्रमत्त अवस्था, जिसको पाने की साधना तपश्चर्या के रूप में भी होती है। महासती श्री जतनकुंवर जी के 51 का पूर है, बादाम कंवर जी के 27 चल रहे हैं और भी भाई-बहनों में तपश्चर्या का क्रम चल रहा है लेकिन तपश्चर्या का एक ही भेद नहीं है, उसके बारह भेद हैं और इन बारह ही भेदों के माध्यम से आत्मा के प्रमाद को दूर कर सकते हैं यह तपस्या भीतरी स्वरूप को बदलने वाली है तथा शान्ति सुधारस का पान करने वाली है क्योंकि शान्ति सुधारस का आस्वादन अप्रमत्त अवस्था में ही प्राप्त होता है इसलिए अपने हृदय की अनुभूति के साथ इस रस का पान करें।

(दि. 7-9-77)

देवत्व को पकड़ें !

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए.....

कवि ने इस प्रार्थना की पंक्तियों में प्रभु को सुख सम्पत्ति के हेतु तथा भवसागर का सेतु कहा है वे सुख सम्पत्ति के कारणभूत हैं तथा इस जन्म मरण की स्त्री सागर में अर्थात् संसार में पार करने वाले पुल (सेतु) के समान हैं जो इस समुद्र में तैरते-डूबते इस सेतु को पकड़ ले तो वह उबर सकता है। कारण, पुल का निर्माण ही पानी से ऊपर इस रूप में होता है कि उसके ऊपर होकर पानी को छेड़कर बाहर निकला जा सकता है पुल निराबाध रूप से पार करने का साधन होता है।

तो भगवान् के वन्दन को पुल की उपमा दी गई है। इस उपमा के साथ किस बात का अनुसंधान करें? जहाँ सच्चा वन्दन होता है वहाँ मन, वचन तथा कर्म के समस्त योग अन्तःकरण की पूर्ण विनम्रता के साथ नमते हैं यह जो नमन है वह आत्म स्वस्व तथा परमात्म स्वस्व के बीच में पुल के समान बन सकता है कि आत्मा इस पुल के माध्यम से अपने परम स्वस्व तक पहुँच जाय।

यहाँ यह विचारणीय स्थिति है कि जब यह आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाने में ही समर्थ है तो वह देवों की स्थिति से क्यों ललचाती है अथवा देवों को इधर उधर क्यों धोक्ती फिरती है? देवोनि का मनुष्य योनि के सामने कोई मूख्य और महत्व नहीं है। हाँ, मनुष्य देवत्व को पकड़ने का प्रयास अवश्य करें।

सुख सम्पत्ति का लक्ष्य

मनुष्य का लक्ष्य है कि उसके आत्मिक सुख सम्पत्ति ऐसी मिले कि वह भी अपनी आत्मा के परम स्वस्व को प्राप्त करलें। भगवान् को किये जाने वाले वन्दन को वहाँ तक पहुँचाने वाले पुल की उपमा दी गई है कि उसके माध्यम से मनुष्य अपने लक्ष्य को

प्राप्त कर सकता है। यद्यपि यह उपमा विशेष महत्त्व रखती है, लेकिन यह उपमा एकदेशीय दृष्टि से ही सही हैं जिनमें सागर को तैरकर पार करने का सामर्थ्य नहीं है, वे ही सहज रूप से पुल पर होकर जाना चाहेंगे अर्थात् शक्तिहीन बूढ़ और बच्चे भी तथा पशु भी पुल पर होकर पार निकल सकते हैं तो क्या पुल शक्तिहीनता का प्रतीक हो जाता है?

वैसे सुख सम्पत्ति प्राप्त करने के अनेक रास्ते हैं। वे रास्ते कठिन हैं जिनको हर कोई अपने जीवन में सामान्य रूप से स्थान नहीं दे सकता है। लेकिन वन्दन एक ऐसा रास्ता है जो यदि विनम्रता से ओतप्रोत हो जाता है तो वास्तव में पुल का काम कर देता है। यह विनम्रता शक्तिहीनता की प्रतीक नहीं होती है बल्कि विनम्रता को विशेष शक्ति के बिना साधती नहीं है तथा जो विनम्र हो जाता है वह विशिष्ट रूप से शक्तिशाली बन जाता है। विनम्रता का विकास अपने आपमें अनूठा होता है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि वन्दन की सच्ची प्रक्रिया सध जाने पर अविनाशी सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है तो वह वन्दन की तरफ अवश्य गतिशील होगा। लेकिन वन्दन किस स्थल पर करना ?

भगवान् के स्वरूप को मनुष्य भलीभांति पहचान करके नमन करता है तब तो नमन सच्चे रूप में होता है परन्तु जहाँ भगवान् के स्वरूप या उनके मार्ग को नहीं पहचानना और सिर्फ सिर झुका लिया तथा हाथ पैरों को मोड़ लिये तो दूसरों की दृष्टि से तो वह वन्दन दीखता है पर वस्तुतः किसको वन्दन करना चाहिये तथा किसको वन्दन कर रहे हैं- इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो तब तक वन्दन की पूरी सफलता प्रकट नहीं हो पाती है। नमस्कार करने वाला व्यक्ति अपने जीवन के अन्दर नमस्कारणीय अर्थात् जिसको नमस्कार किया जा रहा है अपने नमस्कार के माध्यम से उसके गुणों को ग्रहण करना चाहता है इसलिए यदि नमस्कारणीय गुणी व्यक्ति है तो नमस्कार के जीवन पर उसके गुणों की छाप अवश्य पड़ेगी।

वन्दन तथा वन्दन के माध्यम से उपलब्ध होने वाली गुणशीलता ही उस फूल का निर्माण करती है जो फूल सुख सम्पत्ति के लक्ष्य तक पहुंचाता है।

गुणशीलता का प्रवाह विनय की सुगंध

पानी का बहाव सदा नीचे की ओर बहता है। पानी को जिधर ढलान मिलेगा, उधर ही जायेगा—वह ऊपर की ओर नहीं चड़ेगा। इसी रूप में गुणशीलता का प्रवाह भी नीचे की ओर बहता है याने कि विनय के ढलान पर प्रवाहित होता है आत्मिक गुणशीलता पानी के बहाव के तुल्य है जो नीचे की ओर बहकर मनुष्य को विनम्र बना देता है बल्कि जो व्यक्ति विनम्र होता है वह गुणशीलता को अपनी तरफ खींच लेता है ठीक उसी तरह जिस तरह ढलान की उसकी जमीन पानी के बहाव को अपनी तरफ खींच लेती है। हकीकत में ओर गुणों का प्रवाह प्रवाहित होता है जो विनम्र होता है तथा अवेले विनम्रता के गुण से ही उसका जीवन गुणों से लबालब भर जाता है जिसने विनय की कृति को अपना कर अपने आप को विनम्र नहीं बनाया तो समझिये कि उसके जीवन का धरातल ढलान वाला नहीं बना। लेकिन गुणशीलता का प्रवाह तो ढलान की तरफ बहेगा, ऊपर की ओर नहीं चड़ेगा। वैसे व्यक्ति का जीवन रिक रह जायेगा और गुणहीन बन जायेगा। वास्तव में विनय की सुगंध के बिना साय जीवन गंधहीन रह जाता है।

इस दृष्टि से नमन के महत्व को समझिये। नमन इसलिये किया जाता है कि मनुष्य अपने जीवन को आत्मिक गुणों से समृद्ध बना सके तो नमन कब होगा? जब मनुष्य यह समझेगा और महसूस करेगा कि उसका जीवन सद्गुणों से रिक है अथवा उसके जीवन में सद्गुणों की स्थिति फुट नहीं हैं अथवा उसके जीवन में दुर्गुणों का बाहुल्य हो रहा है तब उसकी आकांक्षा जागृत होगी कि वह अपने जीवन को गुणशील बनावे तथा उस उद्देश्य से वह वन्दन की प्रक्रिया की तरफ आकर्षित बनेगा। अभिप्राय यह है कि वन्दन

करो समय मनुष्य के मन में परमात्मा के समान ही अपनी आत्मा को भी गुणसम्पन्न बनाने की सच्ची आकांक्षा होती चाहिये। गुणों के अभाव में जीवन अन्दर से खाली-खाली लगता है तो उस सत्ता की पूर्ति भगवान् को सच्चे हृदय से वन्दन करके भली प्रकार की जा सकती है। यह वन्दन गुणशील विभूति को किया जाये तभी सार्थकता है। वरना गुणहीन व्यक्तियों के आगे सिर झुकते रहे तो उससे क्या मिलने वाला है? जिस तंकी में पानी नहीं है उसके नीचे रखे हुए व्यक्ति किना ही झुक-झुक कर पानी लेने की कोशिश करे, लेकिन वहाँ से पानी मिलने वाला नहीं है। तंकी ही खाली है तो खाली घड़े में पानी कहाँ से आयेगा? गुणहीन से गुण कैसे फूट सकते हैं? गुणवान् को वन्दन करने से ही गुणशीलता का प्रवाह पूछ सकेगा तथा नमस्कारकर्त्ता विनय से भरपूर होगा तो वह प्रवाह सुगंध मय भी बन जायेगा।

सत्य को पहचानने वाली आत्मा

जिन विभूतियों में आत्मीय गुणों का प्रबल बाहुल्य होता है और जिनकी आन्तरिकता से गुण छलकते रहते हैं उनके चरणों में यदि कोई विनमतापूर्वक वन्दन करता है तो वह अपनी आत्मा को भी सद्गुणों से सजाए बिना नहीं रह सकता है। ज्ञानी जनों ने इस विषय में बहुत कुछ संकेत दिया है उस संकेत को भव्य जनों को समझना और पकड़ना चाहिये। वन्दन और अवन्दन का प्रश्न भी दृढ़ है, लेकिन इस प्रश्न को अपनी हार्दिकता से ही हल करना होगा जब यह प्रश्न सहज रूप में हल हो जाता है फिर जीवन के अन्दर कुछ विशेष गुणों का प्रवेश सहज रूप में ही हो जाता है।

सत्यकृष्टि आत्मा, जिसने सत्य को सही स्वरूप में समझा है- सत्यं शिवं सुन्दरं के मर्म को पहचाना है वह आत्मा वन्दन के सत्य को भी भलीभांति पहचान सकती है। उसका सिर अन्यो के पैरों में नहीं झुकता फिरेगा। हर किसी सत्यकृष्टि आत्मा यह सोचती है कि मैं जिसको नमस्कार करने के लिये झुकना चाहती हूँ

उसका जीवन-स्वस्व वैसा है? वह सिद्ध और अरिहंत भगवान् के स्वस्व का स्मरण करती है जिनके पीछे किसी नाम, जाति या वर्ग का निर्देश नहीं होता है उनका सम्पूर्ण स्वस्व सिर्फ गुणों का पुंज ही होता है जो आत्माएं अपने जीवन में राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा का समूल विनाश करके सद्गुणों को भर लेती हैं वे ही अरिहंत पद को प्राप्त करती हैं और मोक्ष प्राप्त कर लेने पर वे ही सिद्ध बन जाती हैं अरिहंत की आत्मा शरीर में रहने वाली होती है लेकिन अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति से परिपूरित होती है एक सम्यक् दृष्टि आत्मा को इसी सत्य की परीक्षा करनी होती है कि नमस्करणीय कौन हो सकता है? तब उनको वन्दन का सत्य स्पष्ट होता है।

आत्मा का जो लक्ष्य है उसका परिपूर्ण स्वस्व सिद्ध भगवान् में होता है। वह लक्ष्य मोक्ष है, जहाँ से लौट कर फिर संसार में आना नहीं होता है तब अपुन्यवृत्ति की अवस्था आ जाती है इसका अर्थ है कि आत्मा पुनः गर्भ में नहीं आती-जन्म, जरा और मरण में नहीं उलझती तब उसको अजरामर स्थान सिद्ध स्थान मिल जाता है ऐसा सिद्ध स्थान जिन्होंने पा लिया है वे अरिहंत और सिद्ध इस संसारी आत्मा के लिये आध्यात्मिक सुख के स्व में वन्दनीय तथा नमस्करणीय होते हैं अन्य प्रकार के तथाकथित देव न तो मनुष्य के लिये वन्दनीय होते हैं और न मनुष्य के लिये उनको वन्दन करना शोभास्पद अथवा योग्य होता है।

देव-योनि मनुष्य के लिये आकर्षण का केन्द्र नहीं होनी चाहिये

शास्त्रों में प्रसंगोपात्त खगोल, भूगोल सम्बन्धी वर्णन किया गया है, उसमें चारों भाँति की देव योनि का वर्णन आया है। ये देव योनियाँ हैं भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष तथा वैमानिक ये देव योनियाँ भी मनुष्य योनि के समान ही सांसारिक जन्म मरण की योनियाँ हैं मनुष्य जिस प्रकार अपना व्यवहार रखता है जिस तरह की अपनी दिन चर्या बनाता है लगभग वैसा ही व्यवहार तथा वैसी ही दिन

शक्ति के प्रयोग से वे कभी कभी मनुष्य लोक में भी आ जाते हैं लेकिन उच्च जाति के देवों का मनुष्य लोक में आना कभी कभी ही होता है। जब कभी तीर्थकरों का जन्म होता है- उनकी दीक्षा व देशना होती है- उनका वेचल ज्ञान या मोक्ष होता है तभी विशिष्ट कर्यों के निमित्त विशिष्ट देवों का यहां आगमन होता है लेकिन नीचे के जो ब्यन्तर देव होते हैं उनका परिभ्रमण बिना किसी विशेष कार्य के भी इस तिरछे लोक में होता रहता है। वे यदा कदा विचरण करते रहते हैं तथा कभी-कभी अपने कौतुक भी दिखाते रहते हैं।

आज के मनुष्यों के मस्तिष्क में देव योनि, देव जीवन तथा देवों के विषय की बड़ी हलचल रहती है- वह इसी दृष्टि के परिणाम स्वरूप है। वे ब्यन्तर जाति के देव विभिन्न रूप बनाकर यहां पहुंच जाते हैं और अनेक स्थलों पर अपनी कलाएं दिखाते हैं उनकी उस कलापूर्ण शक्ति से साधारण व्यक्ति प्रभावित हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि यह दैवी चमत्कार है और इसलिये यहां नमन होना चाहिये। यह मनुष्य की हताशता का परिणाम होता है किन्तु वास्तव में देव योनि मनुष्य के लिये आकर्षण का केन्द्र नहीं बननी चाहिये और देव जीवन भी विकारों से परिपूर्ण रहता है। उसका मनुष्य योनि की तुलना में आध्यात्मिक रूप में कोई महत्व नहीं होता है।

देव भौतिकता से सम्पन्न आध्यात्मिकता से नहीं

लोग देवों के चमत्कार देख कर प्रभावित होते हैं और उनको नमन करने लग जाते हैं। यह नहीं सोचते कि कहां नमन कर रहे हैं? किसको नमन कर रहे हैं? ये देव भी मानव की तरह कौतूहल प्रिय होते हैं। विकारों की दृष्टि से भी विकार रहित नहीं होते हैं। उनका मन भी मोह युक्त होता है। ये देव अपनी भौतिकता तथा वृद्धि सिद्धि से कितने ही सम्पन्न हैं, किन्तु आध्यात्मिकता से उतने सम्पन्न नहीं होते आध्यात्मिकता के क्षेत्र में वे कोई पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं। इसका असर यह होता है कि जितना आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अभाव होता है उतनी ही विकारों की उनकी अधीनता अधिक

देवों को नमों या नमार्ने ?

इस रूप में देवों की स्थिति मनुष्य की स्थिति से भिन्न होती है। मनुष्य जीवन में रहने वाले कई सभ्यक दृष्टि भी होते हैं तो कई श्रावकव्रतधारी भी होते हैं। आज के युग में कुछ ऐसी दुर्बलता आ गई है कि श्रावकव्रत के अनुसार आराधना करने वाले मानव भी देव को अपने अग्र रख कर चलते हैं तथा उनको नमन करने को तत्पर हो जाते हैं, यह सैद्धान्तिक दृष्टि का नमन नहीं है। उनको नमन मनुष्य अपने स्वार्थके वशीभूत होकर करता है तथा कभी इधर तो कभी उधर झुकता रहता है। इस में भी जब वह अपने विवेक को छोड़ बैठा है तो जहां देव योनि के देव का भी प्रसंग नहीं होता, वहां एक सिन्दूर लगे पत्थर को भी अपना सिर झुकाने में देर नहीं लगती है। अन्धविश्वास के ऐसे कई किस्से आपको मालूम होंगे।

अज्ञान में मनुष्य अपने सिर को इतना सस्ता बना लेता है कि किसी ने यों ही पत्थर पर सिन्दूर पोत कर रख दिया तो भद्रिक भाई उसको भैंरंजी या और कुछ मानकर अपना सिर झुकाने लग जाते हैं। इस तरह की मेरे बचपन के अनुभव की एक बात आपको बता देता हूँ गृहस्थाश्रम की दृष्टि से मैं एक छोटे गांव में रहता था, जहां अधिकतर छोटे जाति के लोगों के घर थे। वहां पर एक व्यक्ति जगदम्बा का स्वांग बना सिन्दूर आदि पोत कर आ रहा था। हम पास में ही खेल रहे थे। वह भोपा था। उसने वहां से एक पत्थर उठा कर सिन्दूर पोत दिया और उसको थरप दिया। यह वही पत्थर था जिस पर हम रोज अशुचि किया करते थे। वह पत्थर भैंरंजी बन गया और लोग पूजा करने लगे। यह मेरी आंखों देखा दृश्य है। अब ऐसे पत्थरों की एक जैन और एक श्रावक भी पूजा करने लगे तथा उसको नमन करने लगे तो उस को क्या कहें? अज्ञान की हद हो जाती है। जहां चमत्कारी देवता को भी आध्यात्मिक दृष्टि से नमन का निर्देश नहीं है वहां ऐसे अन्ध विश्वासों के आगे झुकना क्या लज्जाजनक नहीं है? उन्हीं पत्थरों पर कुछ पेशाब करते रहते हैं और

उसमें कम से कम मेरे से अधिक गुण अगर उसमें है तो वह वन्दनीय है। मेरे से नीचा है तो वन्दनीय कैसे होगा? वहां से गुण रूप पानी कैसे आयेगा ?

मनुष्य जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं जब वह अपनी विविशीलता तथा परीक्षा बुद्धि का प्रयोग करने में चूक जाता है। तथा साधु जीवन की पोषाक मात्र देखी की चट से कह दें- गुरुदेव, पधारिये यह नहीं सोचेंगे कि इस साधक की गुणशीलता क्या है? अमरवती से आज कोठरी जी आये थे, वे बता रहे थे कि एक पोषाकधारी अपने को साधु बता कर वहां के स्थानक में चातुर्मास के निमित्त से रहने लगा- बता दिया कि गुरुजी मार्ग में कल कर गये सो वह अवेला ही रह गया। सभी ब्याख्यान सुनते और सम्मान देते थे, लेकिन किसी ने भी यह पता लगाने की चेष्टा नहीं की कि सचाई क्या है? फिर वह ज्योतिष, जादू केना सब कुछ बताने लगा। फिर भी लोग उसके साधुमानकर नमन करते रहे- यह कितनी असावधानी है- परीक्षा बुद्धि का कितना अभाव है? फिर कहते हैं कि उसने वन्दन वगैरा भी इच्छा किया तथा वह उसी चौमासे में पैसे लेकर गायब हो गया।

श्रावक लोग यदि ऐसा अंधापन रखेंगे तो कोई भी स्वार्थी व्यक्ति विकारों के पोषण की दृष्टि से साधु की पोषाक पहन लेगा- उसके देर क्या लगेगी? सुना है, ऐसे भी साधु केशधारी हैं जो रेल में बैठ कर चले जाते हैं, पातरे और पोषाक लेकर जाते हैं और पैसे बटोर कर खाना हो जाते हैं। अतः कोई पोषाक देखकर ही पीछे नहीं लग जावें। जिसको नमन कर रहे हैं, पहले उसकी गुणशीलता को परखें। कसौटी साधु आचार की दृष्टि से ठीक मालूम पड़े, तब अवश्य नमन करें और सम्मान दें। आप देवत्व को पक्कना चाहें तो डेरी गुणशीलता की ही अपना नी पेंछी और उसी को पक्क कर देवत्व तक पहुंचना होगा। देवत्व कोई अलग अवस्था नहीं है- गुणशीलता से समृद्ध जीवन ही देवत्व को घोजन करने वाला हो जाता है।

जो महात्तों का पालन नहीं कर रहा है उसको वन्दन करने से क्या फल मिलेगा? अगर मिला वन्दन करने से जिन-जिन फलों की प्राप्ति होती है उनमें से कोई भी फल नहीं मिलेगा। अब आप ही इसका इसका विचार करें। ऐसे साधुवेश धारी को वन्दन करने से मिथ्यात्व का दोष भी लगेगा तथा जन्म जन्मान्तर तक उससे शुद्धि का मार्ग कठिना से मिलेगा।

यह कथन अनुभूतिपूर्ण है-सत्य है क्योंकि इस पक्ति निर्द्ध श्रमण संस्वृति के जो संस्थापक तीर्थंकर हैं उन्होंने स्वयं ने तपश्चरण करके त्रों से आत्म शक्ति को सम्पादित करके तथा आध्यात्मिक नैतिकता का मार्ग दर्शन देकर के चतुर्विध संघ के चारों अंगों के आचार पर पूर्ण प्रकाश डला है। उसको ध्यान में नहीं रख कर जो श्रावक विपरीत कृति वाले साधु को वन्दन करते हैं तो वे अपनी आत्मा का भी अहित करते हैं तथा उस साधुवेशधारी की आत्मा का भी अहित करते हैं। इसके सिवाय दिव्य साधुत्व को दुनिया की दृष्टि में नीचे गिराते हैं। साधुत्व को कसौटी पर चढ़वें तथा उसे देवत्व के दर्जे पर बनाये रखें वरना इस अंध कृति से बड़ा अहित होगा।

देवत्व की कुंजी है-सद्गुणशीलता

पक्ति निर्द्ध श्रमण संस्वृति की सुरक्षा तभी हो सकेगी जब साधुत्व की श्रेष्ठ परम्पराओं तथा मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। इसके लिये स्वयं को सद्गुणशीलता अफनानी होगी तथा इसी कसौटी पर साधुता को कसकर अयोष्य साधुओं को उन की अयोष्य कृतियों से दूर करना होगा। साधुत्व की गरिमा इसी तरह बनी रह सकेगी और देवत्व का दिव्य आलोक संसार का पथ प्रस्त कर सकेगा। ध्यान रखें कि देवत्व की कुंजी है सद्गुणशीलता, जिसके परम विकास पर स्वयं देवता आते हैं और गुणी को नमस्कार करते हैं।

(दि. 8-9-77)

अन्तःकरण का माध्यम

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए.....

मानव का जीवन एक विशिष्ट संरचना है यह एक दृष्टि से सृष्टि की अति महत्वपूर्ण रचना है किसी भी कार्य के सम्पादन में करण का माध्यम अवश्य होता है करण के बिना कोई कार्य नहीं बनता है करण एक ऐसा माध्यम है जिससे कार्य की विद्यमानता होती है और उसकी भव्यता भी दिखाई देती है। करण शुद्ध है तो कार्य भी पवित्र होगा। करण की अशुद्धि की अवस्था में कार्य की पवित्रता भी संदिग्ध बनी रहती है बल्कि अशुद्ध उपादानों से अशुद्ध कार्य ही सम्पादित होगा। इसमें निमित्त का प्रसंग अलग है

करण स्व माध्यम के अनुसार ही कार्य स्वी फल प्रकट होता है करण को भी पैदा करने वाला एक और माध्यम होता है मनुष्य के इस जीवन में जो भी कार्य बनता है उसका मूल उसका विचार होता है तथा वह विचार उत्पन्न होता है अन्तःकरण में। इस दृष्टि से माध्यमों का माध्यम होता है अन्तःकरण। इस अन्तःकरण के माध्यम से यही मनुष्य की वृत्तियाँ पैदा होती हैं जिनके अनुसार उसके जीवन की प्रवृत्तियों का स्व सामने आता है। इस माध्यम का स्वस्व जैसा होगा शुभ या अशुभ—वैसा ही वृत्तियों का निर्माण होगा।

जीवन की गति में धर्मास्तिक्य का माध्यम

यह जीवन का कार्य है तथा जीवन से सम्बन्धित जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनके निर्माण में भी कुछ न कुछ माध्यम रहे हुए हैं। जीवन की बाहरी गति यह भी एक माध्यम से ही होती है इस गति में भी दो तरह के माध्यम रहे हुए हैं। एक पुद्गल तो दूसरी धर्मास्तिक्य है। शास्त्रीय दृष्टि से जीव और पुद्गल की गति में धर्मास्तिक्य का माध्यम माना गया है वह सामान्य करण है तथा विशेष करण उस वस्तु में रहने वाली क्रियावती शक्ति होती है जीव

में क्रियावती शक्ति होती है और पुद्गल में भी। दोनों तत्व जो गति करते हैं वे अपनी क्रियावती शक्ति के सहारे करते हैं। लेकिन फिर भी इस गति में माध्यम की आवश्यकता होती है। ये बिना माध्यम गति नहीं कर पाते हैं। यदि धर्मास्तिकय इस लोक में नहीं हो तो किसी भी तत्व की गति अवरुद्ध हुए बिना नहीं रहेगी, बल्कि गति कर ही नहीं पायेंगे। यह सब लोगों में व तत्वों में जो हलन चलन है—जो गति क्रम है वह धर्मास्तिकय के माध्यम से ही है। उसका माध्यम नहीं हो तो गति नहीं हो सकती है। यह वैसी ही स्थिति है जैसी स्थिति मछली के लिये पानी की होती है। मछली पानी में ही गति कर सकती है वरना पानी से बाहर आकर गति तो क्या—उसका जीवन भी दूमर हो जाता है।

आत्मा अपने मूल स्वभाव के कारण गतिशील होती है। आत्मा का स्वभाव उर्ध्वगामी है। उर्ध्वगामिता में आत्मा की इतनी शक्ति है कि वह एक समय में इस विराट विश्व को पार करके अन्तिम छोर में स्थित सिद्ध शिला तक पहुंच सकती है। सिद्ध भगवान् एक ही समय में गति करते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि आगे क्यों नहीं जाते? आगे नहीं जाने का कारण यह है कि आगे धर्मास्तिकय का अस्तित्व नहीं है। सिद्ध जिनको सर्वशक्तिसम्पन्न कह सकते हैं? परिपूर्ण आत्म विकास के चरम स्वरूप होते हैं वे भी धर्मास्तिकय के अभाव में लोक से आगे अलोक में गति नहीं कर सकते हैं। अन्वियों का तो कहना ही क्या ?

इस धर्मास्तिकय का माध्यम वीतराग देवों ने बताया। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। विज्ञान से तात्पर्य केवल भौतिक विज्ञान की स्थिति से ही अंकन नहीं करें। आध्यात्मिक विज्ञान का यह एक विशेष प्रसंग है। लेकिन जहां भौतिक विज्ञान की गतिविधि है वहां भी माध्यम की आवश्यकता महसूस की गई है। वैज्ञानिक भी यह अनुभव कर रहे हैं कि वायरलेस के आधार पर जो सूचनाएं दी जाती हैं उसमें माध्यम अवश्य है। तार का माध्यम स्पष्ट देखता है लेकिन

वायरलेस पद्धति में तार सम्बन्ध नहीं होता है। यदि आकाश में माध्यम न हो तो वायरलेस के द्वारा सूचनाएं नहीं दी जा सकेंगी। इतने समय तक वैज्ञानिक इस तत्व को ईश्वर के नाम से पुकारते थे लेकिन प्रबुद्ध वैज्ञानिक निरन्तर गति के माध्यम की खोज करते रहते हैं। वे अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिसको अब तक माध्यम रूप माना गया है वह तो स्थूल माध्यम मात्र है, लेकिन उसके अतिरिक्त सूक्ष्म माध्यम भी अलग है जो आधारगत है उसके विषय में खोज जारी है यह सूक्ष्म माध्यम धर्मास्तिक्य है प्रत्येक कार्य में यह आवश्यकता पाई जायगी कि इसके बिना गति स्वी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकेगा।

भीतरी माध्यमों का माध्यम अन्तःकरण

भीतरी जगत् में जीवन में परम सुख और शान्ति प्राप्त करने का माध्यम प्रार्थना को माना गया है क्योंकि प्रार्थना की यथार्थता में परमात्म स्वस्व पर चिन्तन होता है- उस स्वस्व के साथ निजात्मा के स्वस्व की तुलना होती है तो उस तुलना से अनुप्रेरित होकर आत्म-साधना के कार्य में प्रवृत्ति होती है जिससे जीवन में परम सुख और शान्ति की प्राप्ति संभव बनती है इस प्रार्थना का मूल माध्यम वन्दन को बताया गया है कि जब तक एक प्रार्थी मन, तन, लगन से सम्पूर्णता विन्यावन्त होकर प्रभु को वन्दन नहीं करता है तो उसकी प्रार्थना में यथार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता है। यह वन्दन कहां से प्रारंभ हुआ इसकी वास्तविकता किस रूप में परिलक्षित होती है- इस विषय में चिन्तन का बहुत अवकाश है इसका चिन्तक व्यक्ति अलग-अलग तरीके से विश्लेषण करते हैं कुछ ऐसा कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन को पहले बाहर के माध्यम से प्रारंभ किया जाये और यह माध्यम सबसे पहले नमस्कार या वन्दन के रूप में हो सकता है। वन्दन करने के लिये देनों हाथों, देनों घुटनों तथा सिर की विद्या होती है- इन सबके साथ साथ शरीर झुकता है। वे यह प्रतिपादित

करते हैं कि इस नमस्कार की पद्धति का प्रारंभ बाहर के अवयवों को झुकाने के लिये हुआ। उनका यह कहना है कि भीतर की तरफ झुकने की आवश्यकता अलग बात है।

जबकि अन्य व्यक्ति इसकी प्रतिक्रिया उनके विपरीत प्रतिपादित करते हैं उनका कथन है कि बाहरी अवयवों का झुकना मात्र ही नमस्कार नहीं है ऐसा बाहरी नमस्कार करने वाला व्यक्ति कभी हो सकता है धोखेबाज भी हो सकता है और दुनिया को गुमराह भी कर सकता है। वास्तव में नमस्कार तो भीतर से ही होता है। अन्तःकरण से नमस्कार की प्रक्रिया होती है वहीं सच्चा नमस्कार होता है बाहरी प्रक्रिया या बाहरी दिखावा यथेष्ट फलप्रद नहीं होता है। सच पूछें तो केवल इसकी आवश्यकता भी नहीं है। बाहरी अवयव चाहें सो नहीं होगा, बल्कि भीतर के अन्तःकरण की प्रक्रिया जैसा निर्देश देगी, वही होगा। ये जो कुछ भी दृष्टि में आने वाले तत्व हैं वे सब मिथ्या हैं भ्रम हैं तथा दार्शनिक परिभाषा के अनुसार माया रूप है। वेदान्त माया नाम से सम्बोधन देता है तो सांख्य प्रवृत्ति का स्वरूप उपस्थित करता है इस सारे मायामय स्वरूप को दार्शनिक जगत् में दार्शनिकों ने विभिन्न रूपों से सम्बोधित किया है अन्तःकरण में क्या कुछ हो रहा है इसको देखने का यत्न नहीं करना और सिर्फ शरीर के अवयवों को झुका देने मात्र से नमस्कार का सम्पादन नहीं होता है। इसलिये बाहर का कोई रूप ही नहीं है। बाहर आध्यात्मिक प्रक्रिया का माध्यम नहीं होता है वह तो भीतर में ही होता है।

इस अन्तःकरण के माध्यम का प्रतिपादन करने वाले कहते हैं कि यह आन्तरिक बात किसी की दृष्टि में नहीं आती है इन्सान के भीतर में क्या कुछ हो रहा है मन की गतिविधियां किस दिशा में बह रही हैं तथा भीतर में चैतन्य किस रूप में हैं—इन सब बातों का बाहर में कुछ भी पता नहीं चलता है अतएव अन्दर की जितनी भी प्रक्रियाएं हैं वे भी बाहर की प्रक्रियाओं की तरह ही धोखाधड़ी रूप

हैं बल्कि बाहर की प्रक्रियाओं की अपेक्षा भीतर के प्रयोग के विषय में जो यह कहा गया है कि नमस्कार की प्रक्रिया इस आध्यात्मिक जीवन के भीतर में ही होती है, वह भी गलत है। इस प्रकार की बात कहने वाला समाज के अन्दर विलव पैदा कर सकता है। व्यक्ति के बीच असन्तोष का सूत्र पियेकर वह परिवार, समाज और राष्ट्र को खतरे में डाल सकता है। इस प्रकार की बौद्धिक प्रक्रियाएं इस माध्यम के विषय में विभिन्न रूप से बुद्धिवादी मण्डिक में उभरती हैं। तब जन मानस में वैचारिक उलझने पैदा हो जाती हैं।

किन्तु वास्तव में ये दोनों दृष्टिकोण अतिवादियों के दृष्टिकोण हैं किसी भी दिशा में अतिवादी किन्तु समस्या की सुलझान प्रस्तुत नहीं करता हैं। सही सुलझान दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय में रही हुई है। बाहर के माध्यम भी माध्यम का काम देते हैं वे कभी भीतरी माध्यम को जगाते हैं तो कभी भीतरी माध्यम की शक्ति को भी प्रकशित करते हैं। उनकी भी अपनी उपयोगिता है। किन्तु सभी माध्यमों का माध्यम यह अन्तःकरण होता है इसे नहीं भूलना चाहिये।

माध्यमों का अतिवादी रूप

जब जीवन के माध्यमों के सम्बन्ध में बुद्धिवादियों के विभिन्न अतिवादी दृष्टिकोण सामान्य जनता सुनती है तो वह विचरक्य विमूढ़ हो जाती है तथा सही सूत्र पकड़ नहीं पाती है। भावी पीढ़ी की बालिकाएं और बालक भी, जिनकी बुद्धि का विकास अभी विद्यालयों में हो रहा है इन माध्यमों से सम्बन्धित दृष्टिकोणों को सुनते हैं तो इस सारे तर्कवितर्क को लेकर माध्यमों के समन्वित रूप का ज्ञान नहीं कर सकते हैं। जब समन्वय का ज्ञान उन्हें नहीं होता है तो वे भी आध्यात्मिक जीवन से दूर भागने लगते हैं। कई बार तो बाह्य जीवन से भी दूर भागने लगते हैं और इस रूप में वे जीवन में निराशावादी बन जाते हैं।

प्राचीन काल में एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय था। उसकी धार्मिक श्रद्धा सामान्य थी। जहां कहीं भी सत्संग का प्रश्न आता, वह वहां

पहुंचता था। एक बार उसने गौतम बुद्ध के भिक्षु वर्ग के भेष में एक भिक्षु को देखा तो वह उसके मठ में पहुंच गया। बुद्ध के भिक्षुओं के लिये मठ हुआ करते थे। वहां सब कुछ कार्य हुआ करता था। भोजन आदि की व्यवस्था वहीं होती थी और आगन्तुकों समेत सब भोजन वहीं करते थे। जहां तक जानकारी मिली है भिक्षुजन मांस का भी सेवन करते थे। गौतम बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को यह छूट दे दी थी कि यदि मुर्दा मांस मिल जाये तो उसके ग्रहण कर लें। इस छूट से इतना विस्तार हो गया कि मुर्दा जिन्दा प्राणियों का मांस बहुत उपयोग में आने लगा। गौतम बुद्ध भगवान् महावीर के ही समकालीन थे लेकिन दोनों के अनुयायियों के आचार विचार में इस प्रकार रात दिन का अन्तर था। उसी अन्तर के परिणाम है कि महावीर के अनुयायियों में संस्कारों की ऐसी ज्ञानवती परम्परा बन गई कि आज भी एक जैन बालक मांस भक्षण से घृणा करता है। बुद्ध भी अहिंसा के प्रतिपादक थे, किन्तु थोड़ी सी छूट से परम्परा इस रूप में बिगड़ गई।

अस्तु, सम्राट् मठ में पहुंचे, भिक्षु से कुछ बातें सुनी तथा वापिस राजमहल में चले गये वहां पर नगर के प्रमुख नागरिक उनसे मिलने के लिये आये। उन्होंने निवेदन किया-हम चाहते हैं कि नागरिकों में पवित्र वृत्ति बनी रहे-एक दूसरे की मर्यादा और शिक्षा कायम रहे। इसके लिये हम प्रयास कर रहे हैं किन्तु आपको भी सतपोषण मिलना चाहिये। सम्राट् ने अपने पूर्ण सहयोग की तत्परता बताई। तब वे बोले-हम आपकी छाछया में ऐसा वायुमंडल तैयार कर रहे हैं, जिससे नगर-धर्म सुरक्षित हो, लेकिन आप बड़े हैं, आपकी व्यवहार वृत्ति में भी संशोधन की आवश्यकता है। गीता का वाक्य है कि-यद् यदैव आचरति श्रेष्ठ, तद् तदैव इतरो जन, अर्थात् श्रेष्ठपुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है वैसा-वैसा आचरण ही अन्य लोग करते हैं। इस पर सम्राट् ने पूछा-आपने मेरे जीवन में क्या अनैतिकता देखी है? मैं तो समझता हूं कि मैं तो पवित्र व्यवहार लेकर चल रहा हूं नागरिकों ने कहा-आपके व्यवहार में कोई बुराई

लिया कि यह भिक्षु तर्कवितर्क से मानने वाला नहीं है। तर्क तो ऐसी तलवार होती है जिसको जिधर चाहे उधर घुमा दे उससे समस्या का हल नहीं होता है। वस्तुतः समस्या का समाधान तो अनुभूति से होता है।

सम्राट् ने अपने अनुचरों को संकेत दिया कि अमुक जो पागल हाथी है उसको मर्दिया पिला कर बाहर मैदान में छोड़ दें। उधर भिक्षु को उन्होंने कहा—अच्छ भिक्षु जी, जो कुछ है सो अन्दर में है—बाहर कुछ भी नहीं है—माया मोह है वह सब व्यर्थ हैं, झूठ है, कुछ नहीं है। आप जाइये। हाथी की व्यवस्था ऐसी की गई थी कि मैदान में मस्त होकर विंघाड़ रहा था और उस मैदान में होकर ही बाहर जाने का मार्ग था। राजमहल से निकलते ही भिक्षु ज्यों ही मैदान में उतरा कि हाथी उधर भागता हुआ आया तथा भिक्षु को सूँ में पकड़ कर जमीन पर पटकने लगा। अब भिक्षु विल्लाने लगा—मुझे बचाओ, मुझे बचाओ। सम्राट् बाहर आये और बोले—क्यों विल्ला रहे हो, भिक्षु बाहर तो तुम हो ही नहीं—यह बाहर सब माया है, इससे छुड़ने की आवश्यकता ही क्या है? भिक्षु खेले लगा—किसी तरह मेरे जीवन को बचा लीजिये। मेरी मान्यता गलत हैं, मैं अपने विचारों को बदल लूँगा और अपने आचरण को सुधार लूँगा।

जब यह भली प्रकार विदित हो गया कि उस भिक्षु को पूरी अनुभूति हो गई है तो हाथी को वहाँ से ले जाने का आदेश सम्राट् ने दिया और भिक्षु को कहा—एकंगी रथ से जब एक पक्ष बाहर का समर्थन करता है तथा दूसरा पक्ष अन्दर का समर्थन करता है तो उससे समस्या ही जटिल नहीं होती है। लौकिक तथा आध्यात्मिक-देनों जीवन में विकृतियाँ फैल जाती हैं एवं सामान्य जन की मनोस्थिति बड़ी विषम बन जाती है। इस प्रकार ये देनों अतिवादी त्रुटिपूर्ण होते हैं। देनों ही माध्यमों की वास्तविकता को नहीं समझ पाते हैं।

माध्यमों का समन्वय कीजिये

अतिवाद का मार्ग कभी भी सही नहीं होता है क्योंकि जीवन का प्रत्येक कार्य विभिन्न अपेक्षाओं से सम्बन्धित होता है अतिवादी किसी एक अपेक्षा को ही पकड़ कर उसके जब पूर्ण सत्य मान लेते हैं तो उनका मत पूर्णतया मिथ्या हो जाता है माध्यम के विषय में भी दोनों प्रकार के अतिवादी अपने आप को मिथ्या सिद्ध कर देते हैं वही बात यदि एक अपेक्षा से की जाती है तब तो उसमें सत्यांश हो सकता है लेकिन हठवाद के कारण वह सत्यांश भी समाप्त हो जाता है इसी दृष्टि से माध्यमों के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये कि सम्पूर्ण अपेक्षाओं को समन्वित करने के बाद उनका क्या स्वरूप बनता है तथा यह जो भव्य दृष्टि है वही वीतराग देवों की स्याद्वादमय दृष्टि है जो सत्यांशों को मिथ्या नहीं बनाती, बल्कि सत्यांशों को बिखरे सत्य को जोड़ कर पूर्ण सत्य से साक्षात्कार करने की दिशा में अग्रणी बनाती है

बई हजार वर्ष बीत चुके, लेकिन भगवान् महावीर की उद्घोषणा इस विषय का सुन्दरतम समाधान दे रही है कि दोनों पक्षों में सत्यांश रहा हुआ है। बल्कि दोनों एक ही तत्व के दो अलग-अलग छोरों को पकड़ कर विपरीत दिशा में जा रहे हैं। अन्दर से बाहर सर्वथा भिन्न है अर्थात् अन्तःकरण से बाहर का यह हथ और पैर सर्वथा भिन्न है तथा हथ के प्रयोग का असर अन्तःकरण पर नहीं पड़ता—यह कहने वाला गलत है। महावीर ने बताया कि दोनों पक्षों को समन्वित करके चलने से सही मार्ग मिल सकेगा। प्रारंभ वहीं से करें—चाहे अन्दर से करें या बाहर से करें लेकिन दोनों छोरों को मिलाने की तरफ बढ़ें—विपरीत दिशाओं में नहीं चलें। एक लठ्ठी रस्सी है—यदि उसके इस छोर से छुएं तब भी वह प्राप्त हो जायेगी तथा उस छोर से छुएं तब भी वह प्राप्त हो जायेगी।

वैसे ही जीवन का आत्मिक तत्व एक है—अन्तःकरण एक है जैसा बाहर है वैसे ही भीतरी हिस्सा है आत्म प्रदेश यदि एक हथ

में नहीं हों तो वह हिलेगा डूलेगा भी नहीं। हाथ की प्रक्रिया चालू हो रही है तो समझिये की अन्दर की प्रक्रिया चालू हो रही है अन्दर की प्रक्रिया चालू हो तो बाहर की प्रक्रिया भी चलने लगेगी। जो यह कहते हैं कि अन्दर है सो बाहर नहीं है तो यह नहीं हो सकता। यदि भीतर में है तो बाहर अवश्य आयेगा और यदि बाहर नहीं आ रहा है तो समझ लेना चाहिये कि भीतर कुछ भी नहीं है। चेतन भीतर में है तो उसकी शुभ अथवा अशुभ क्रियाएं बाहर आवृत्ति पर तथा बाहर की प्रकृतियों में अवश्य ही झलकेगी। यदि शरीर के भीतर में चेतन नहीं है वह मूर्ख हो गया है तो फिर कुछ भी होने वाला नहीं है।

यदि आप एकान्ततः बाहर को लेकर चलते हैं तो यह भी गलत है बाहर का नमस्कार यदि भीतर की प्रेरणा के बगैर होता है तो वह सही नहीं है। अन्दर की शक्ति को छोड़ कर अन्दर और बाहर को अलग-अलग त्वष्ट्रों में बाँटना जीवन में भटकने के बराबर है। जीवन को वास्तविक दृष्टि से पहचानना है तो यही रूप लाना होगा कि भीतर और बाहर एक है तथा इनकी एक रूपता से ही श्रेष्ठ जीवन का निर्माण होता है। इस एक रूपता के भीतर और बाहर कई माध्यम हैं किन्तु उन सारे माध्यमों का मूल माध्यम अन्तःकरण होता है तथा इसी कारण अन्तःकरण का माध्यम समस्त जीवन का केन्द्र बिन्दु बन कर कार्यरत रहता है।

अन्तःकरण के केन्द्र बिन्दु से भीतर और बाहर का संचालन

यह समझिये कि मूल माध्यम अन्तःकरण के केन्द्र बिन्दु से ही भीतर और बाहर की समस्त वृत्तियों तथा प्रकृतियों का संचालन होता है। जो अन्दर में वृत्तियाँ उठती हैं, वे ही बाहर में प्रकट होकर प्रकृतियों का स्वरूप ग्रहण करती हैं। देनों के पारस्परिक एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्धों के कारण ही देनों की एक रूपता है। यदि अन्दर में कोई बात उठे या बुरी बात उठे—वह आवृत्ति पर दिखाई देने वाले अनुभावों में अथवा सम्पादित किये जाने वाले कर्मों में झलके बिना नहीं रहेगी।

इसीलिये भगवान् महावीर ने कहा है-
हथ संजए, पाय संजए, वाय संजए, संज इन्दिए।
अङ्गापरए सुसमहिअण, सुत्थं ववियाणइ जेस भिक्खू।

दशवै 10/15

अर्थात् हाथ में संयम है, पैरों में संयम है, मन में संयम है तो वह संयम कहां से आता है? निश्चय है कि वह अन्तःकरण से ही आयेगा। अन्दर और बाहर का एक रूप होगा, तभी संयम मन, हथ, पैर आदि में स्वीकृत किया जायेगा। एकान्ततः न अन्दर को स्वीकार किया गया है और न एकान्ततः बाहर को साधारण जनता अतिवादियों के वाक्छल के पीछे गुमराह हो जाती है। बुद्धिवादी भी जब एकान्ततः सोचते हैं तो गुमराह हुए बिना नहीं रहते हैं।

जहां प्रमाद की बात बताई है, वहां भी यही उल्लेख है कि अप्रमत्त होकर चलने वाला साधु चाहे उस सूत्र को अन्दर से प्राप्त करे या बाहर से ले किन्तु दोनों क्षेत्रों में एक रूपता आयेगी, तभी अप्रमत्त अवस्था पूर्णतः कर्म हो सकेगी। यही अहिंसा तथा प्रत्येक व्रत-पालन की स्थिति में होता है। अन्दर बाहर को अलग-अलग देखने से कहीं भी कर्म नहीं चलता है-दोनों को एक रूप बनाना होगा। अन्दर है तो बाहर आयेगा और बाहर है तो अवश्य अन्दर जायेगा-यदि जीवन का वास्तविक स्वस्व है घड़े में पानी भरा है तो बाहर अवश्य छलकेगा। जिस पहड़ से झरना आ रहा है तो पहड़ के भीतर पानी होता है तभी बाहर फूट कर आता है।

बाहर भीतर की एक रूपता का केन्द्र बिन्दु होता है अन्तःकरण जिसके स्वस्थ संचालन में ही जीवन का कुंभुखी विकास संभव होता है साधना का प्रत्येक कार्य अन्तःकरण पूर्ण करे !

साधना का प्रत्येक कार्य अन्दर और बाहर की एक रूपता के साथ करें क्योंकि ऐसी एक रूपता में ही वह कार्य अन्तःकरण पूर्ण हो सकेगा। वन्दन को परम सुख शान्ति का हेतु माना है तो वन्दन का प्रारंभ कैसे करेंगे? वन्दन का प्रारंभ बाहर से हाथ जोड़कर पीछे

आगे विन्यास करके चालू करिये लेकिन वह कन्दन अन्तःकरण में उतरे तथा भीतरी वृत्तियों को भी प्रभावित बनावे जो शुद्धता अन्दर और बाहर दोनों जगह फैलेगी, वही वास्तविक शुद्धता होगी। यदि अन्दर में भी शुद्धता परिपूर्ण व्याप्त हो गई तो वह शरीर के भीतर होकर बाहर निकले बगैर नहीं रहेगी। वह बाहर से भी व्रत परायण होगा—उसके हाथों तथा पैरों में भी संयम रहेगा।

भगवान् महावीर के आध्यात्मिक ज्ञान की प्रक्रिया समग्र विज्ञान को छूने वाली, भीतर और बाहर को एक रूप बनाने वाली तथा अन्तःकरण के माध्यम को संचालक स्थापित करने वाली है इस प्रक्रिया को अपनाइये तथा साधना के प्रत्येक कार्य को अन्तःकरण पूर्वक सम्पन्न करने की चेष्टा रखिये।

(दि.9-9-77)

कषायों से रंगी कुरूप आत्मा

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए.....

इस पत्र प्रसंग पर परमात्मा के चरणों में वन्दन की प्रेरणा प्रार्थना कंपतियों से मिल रही है परमात्मा का पत्र स्वस्थ सदा सर्वदा अपने आप में अखंड बना हुआ है उनके चरणों में प्रार्थना अथवा वन्दन का मूल अभिप्राय यह है कि वन्दन करने वाली भव्य आत्माएं उनके स्वस्थ को पहचान कर निज स्वस्थ को भी उनके स्वस्थ के समक्ष पहुंचाने का पुरुषार्थ प्रकट करे।

परमात्म स्वस्थ एवं संसारी आत्मा के स्वस्थ के बीच में समानता एवं असमानता के सम्बन्ध में विचार करें तो यह तथ्य सामने है कि मूल रूप में दोनों स्वस्थ समान है। परमात्म स्वस्थ की उज्वलता कषायों एवं कर्मों के रंगों को साफ उतार देने के बाद निखरी है लेकिन संसारी आत्मा आज भी कषायों एवं कर्मों से रंगी हुई है तथा कुरूप बनी हुई है। यही दोनों के बीच में सब से बड़ी असमानता है। आत्मा को कषायमुक्त बना दें तो वह कर्ममुक्त भी हो जायगी और कर्ममुक्त हो जायगी तो यही आत्मा परमात्मा बन जाती है। इसलिये कषायों के विनास पूर्ण बदलों से आत्मा जिस रूप में कुरूप बनी हुई है उसकी इस कुरूपता को दूर करने की ही प्रधान समस्या है।

आत्मा परमात्मा के बीच अन्तर

सिद्धन्तः आत्मा और परमात्मा के असंख्य प्रदोषों की अवस्था समान है लेकिन असमानता की स्थिति से आत्मा और परमात्मा के बीच जो कुछ भी अन्तर है उस अन्तर को दूर करने का समाधान भी इस आत्मा के ही पास है। आत्मा अपने स्वस्थ को समझे अपने मूल शुद्ध रूप की पहचान करे यह आवश्यक है। यह चिन्तन का विषय होना चाहिये। प्रत्येक भव्य संसारी आत्मा के लिये कि मेरी शुद्ध स्वस्थ परमात्मा के तुल्य हो तो हुए भी वर्तमान में वैसा दृष्टिगत क्यों नहीं हो रहा है?

इस विज्ञान में जब आत्मा गहरी अन्तर्णी तो विदित होगा कि उसका यह जीवन अन्य पदार्थों के साथ विविध संयोग के बीच उतार चढ़ाव की स्थिति में चल रहा है कभी दुःख का पहड़ सामने आता है तो कभी सुखों के मनोहर दृश्य मन को आकर्षित बना देते हैं। कभी कुछ प्रलोभन सामने प्रदर्शन करता है तो कभी वहां निरशा की झलक मिलती है। अनेक प्रकार की वृत्तियां जिस मन में तंशें ले रही हैं उस मन की गतिविधि को भी यह आत्मा नियंत्रित नहीं कर पा रही है- इसका क्या कारण है ?

मन आत्मा से बढ़कर आत्मा से ऊपर का तत्व नहीं है, लेकिन वही मन ऐसा उदंड हो रहा है कि जिधर वह चाहता है, आत्मा को उस दिशा में घसीट ले जाता है। मन आत्मा की ही कला है लेकिन यही कला आत्मा के सिर पर सवार होकर उसके कल की तरह घुमा रही है। द्रव्य मन और भाव मन की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि भाव मन आत्मा की शक्ति है और उस शक्तिका जो कुछ भी परिणाम है- द्रव्य मन की स्थिति इस शरीर के साथ लगी हुई है और द्रव्य मन के माध्यम से यह आत्मा इस शरीर की सभी प्रक्रियाओं का निर्वाह कर रही है। यदि सीधे शब्दों में सोचें तो यह द्रव्य मन आत्मा का ही बनाया हुआ है।

जिस आत्मा की अध्यक्षता में इस शरीर की संरचना हुई है- पांच इंद्रियां तथा मन की सृष्टि हुई है तो वह आत्मा मूल में है। ये शरीर, मन तथा इंद्रियां आत्मा के अस्तित्व में ही अपनी सारी गतिविधियों को सक्रिय रख पाते हैं। आत्मा के नहीं रहने पर ये सब निष्क्रिय हो जाते हैं। इस कारण महत्वपूर्ण तत्व है आत्मा- जिसके कारण इन सबकी संरचना हुई। आत्मा के लिये अध्यक्ष की उपाया एवदृशीय है तो उस स्थिति से आत्मा ने अपने आप को विस्मृत क्यों कर दिया है? इस विस्मृति से विकृति पैदा होती है तथा विकृति इसके बन्धनों में डलती है- इसके स्वयं को कुस्वय बनाती है। यही आत्मा और परमात्मा के बीच में दूरी का कारण है।

किन्तु इस स्वयं अन्तर को मिटाने का तथा परमात्म स्वयं

केसमक्ष पहुंच जाने का ज्ञान एवं पुरुषार्थ भी इसी आत्मा के पास है वह इनको जागृत एवं कार्यरत बनाकर समकक्षता की स्थिति में पहुंच सकती है।

गौण प्रधान हो गया है तथा प्रधान गौण

आत्मा के बन्धनों के विषय में यदि चिन्तन करेंगे तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि अनादिकाल से पर-पदार्थों के निरन्तर सम्पर्क से इस आत्मा ने अपने स्वस्व को गौण बना दिया है जो जीवन विकास की मूल धूरी है तथा प्रधान तत्व है और जीवन में पर-पदार्थों को परम प्रधानता दे दी है चैतन्य स्वस्व इस आत्मा से भिन्न जितने भी तत्व इस संसार में विद्यमान हैं वे सब इस आत्मा के लिये परतत्व हैं इन पर-तत्वों को इस विस्मृत आत्मा ने इतना अधिक महत्व दे दिया है कि जो निजत्व के महत्व से भी बढ़ गया है ऐसा लगता है जैसे गौण प्रधान हो गया है तथा प्रधान गौण बन गया है।

इस विपरीत वृत्ति का दुष्परिणाम यह हुआ है कि आत्मा बन्धनों से जकड़ गई है। कर्मों की बेड़ियों से यह बुरी तरह उलझ गई है इस उलझन भरी अवस्था को देखकर ज्ञानीजन सहसा भव्य आत्माओं को सावधानी देते हैं कि यदि इस उलझन में से अपनी आत्मा को निकलना चाहते हैं तो कर्मों से विमुक्त जो परमात्मा है उनके परम विशुद्ध स्वस्व को अपने सामने रखें और उसके सहारे पुरुषार्थ करें। समुद्र में डूबते हुए व्यक्ति को जब समुद्र के बीच में कोई तपू दिखाई देता है तो वह उसी ओर ध्यान रखकर वहां तक पहुंचने की कोशिश करता है। यदि उसका पुरुषार्थ सक्रिय बना रहता है तो वह वहां तक पहुंच भी जाता है।

वैसे ही इस संसार समुद्र के बीच में दृष्टिपात करें तो परमात्मा का ही अवलंबन इस आत्मा के समक्ष इस आत्मा को विकास की ओर गतिमान करने में विशेष महत्वपूर्ण है शास्त्रीय दृष्टि से भूगोल के रूप में जहां असंख्य समुद्र माने गये हैं उनके बीच

में जम्बूद्वीप माना गया है जो मुख्य मानव बस्ती है और मोक्ष का भी जो स्थान है वह भी ठीक इस जम्बूद्वीप की स्थिति में सर्वोपरि हैं इस स्थान का लक्ष्य यदि बनता है तो जिन कारणों से आत्मा इन बन्धनों में फँसी है उन कारणों की खोज भी आसानी से की जा सकती है।

तब आत्मा को यह कारण समझ में आ जायेगा किये बंधन उसकी विवृति-उसकी कुरूपता की वजह से है जो उसने स्वयं ने पैदा किये हैं निज स्वस्व को जो जीवन में प्रधान है उसने गौण बना दिया है तथा बाहर के पदार्थ जिन्हें गौण स्व में रखा जाना चाहिये उनके उसने प्रधान स्व दे रखा है-यह उसकी विपरीत वृत्ति है जो सारी विवृति की जड़ है इन दोनों को यदि वह अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठा करदे तो वह अपनी गति को विकसित कर सक्ती है कष्टों के दृष्टान्त से आत्मा के मैलेपन को समझिये

जब कोई व्यक्ति एकदम स्वच्छ कष्टों वाले पुरुष को देखता है तो तुरन्त उसकी दृष्टि अपने कष्टों की तरफ मुड़ जाती है। वह अपने मैले कष्टों को देखता है तो उसके खयाल आता है कि उसके कष्टों भी स्वच्छ होने चाहिये तथा उसका पुरुषार्थ जागता है कि वह भी अपने कष्टों को स्वच्छ बना लो मेरे कष्टों भी स्वच्छ हो सकते हैं-जब उसका यह विचार गहरा बनता है तो वह उस दिशा में अपना उपक्रम प्रारंभ कर देता है। उसकी विचार धारा इस स्व में चलती है कि जिन तंतुओं का कष्ट यह पुरुष पहने हुए है और उसके वह जिस स्वच्छ स्व में रखे हुए है, उन्हीं तंतुओं के कष्टों को मैंने भी पहन रखा है लेकिन मेरे कष्टों में भारी गंदापन है मैल है और दुर्गंध है जिसका कारण है कि मैंने बहुत दिनों से इसके मैल को धोने की कोशिश नहीं की है। जब इस कष्टों को धारण किया था उस समय यह ऐसा ही स्वच्छ था लेकिन धीरे-धीरे कष्टों के साथ रजकण लगते गये-विकास का संयोग हुआ और यह कष्ट कुरूप बनता गया। इस पर मैल और धब्बे बढ़ते गये। जब धब्बे लग रहे

कषायों का गहरा विकास

आत्मा स्त्री कसत्र पर भी घी तैल के विकास की तरह कई प्रकार के अन्य विकास लगे हुए हैं विकास के इन धब्बों में कषायों के सबसे ज्यादा गहरे धब्बे हैं, जिनका विकास इस आत्मा की स्वच्छता में भयंकर रूप से बाधक है। कषाय का तात्पर्य क्रोध, मान, माया तथा लोभ की वृत्तियों से हैं। ये चारों ही गाढ़े विकास वाली वृत्तियां होती हैं और इनके माध्यम से ही आठों कर्मों के रजकण और इनमें भी अशुभ रजकण इस आत्मा के साथ संयुक्त होते रहते हैं और इस आत्मा के स्वस्व को मलिन बनाते रहते हैं। यह गंदापन और यह मैलापन इस आत्म स्वस्व के साथ इस रूप में संयुक्त हो गया है और वह उससे इतना दुर्धम बन गया है कि आत्मा अपनी वास्तविक सुगंध को ही भूल गई है। कोई व्यक्ति यदा कदा ही दुर्धम के पास जाता है तो उसकी नाक फटने लगती है कि यहां दुर्धम कैसे फैल रही है और इस गन्दगी को कैसे हटा दें- वह इस बात से सोचता है परन्तु जब वह लम्बे समय तक उस दुर्धम के बीच में रह लेता है तो फिर उस दुर्धम की महसूसगिरी को भी वह भुला देता है और उस दुर्धम से वह किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता है। ऐसी ही अवस्था को आत्म विस्मृति की अवस्था कहते हैं।

यही प्रसंग आत्मा का बन गया है वह इस सांसारिक दुर्धम के बीच में रहते-रहते अपने स्वस्व की सुगंध के विस्मृत हो गई है। एक दो रोज की दुर्धम होती तो उसके संकोच होता-घबराहट होती, लेकिन अनेक अनेक जन्मों से जो दुर्धमों की दुख स्व दुर्धम इसके लगी है उसमें वह इतनी रच पच गई है कि उसे वह दुर्धम, दुर्धम स्व मालूम नहीं होती है। आप ही बताइये कि क्या मालूम होती है? सन्त भले ही कहें या शास्त्रीय विधि से भले ही अनुभव कर लें, लेकिन क्या अपने हृदय की अनुभूति बताती है कि अपनी आत्मा इन कषायों की विकास और दुर्धम से अत्यन्त कुरूप बनी हुई है?

आप बाहरी दुर्धम अवश्य महसूस कर सकते हैं गंदी नाली के पास से निकलेंगे तो इतना नाक पर रुमाल रख लेंगे और कहेंगे कि बड़ी दुर्धम आ रही है लेकिन आत्मिक दुर्धम के बीच में रहते हुए

जो चार प्रकार की कषाय बताई गई है उनमें से एक कषाय सबकी जड़ है। वह कषाय क्रोध है। मान-यह क्रोध की अपेक्षा ज्यादा विकसित वाला होता है और माया का गाढ़पन तो मान से भी ज्यादा होता है। लेकिन लोभ तो इतना प्रचंड होता है कि उसके गाढ़पन को भेदना ही दुर्कर कार्य है। इन चारों कषायों में और विशेष रूप से लोभ की वृत्तियों में इस आत्मा की गुण स्वी शक्तियां इस कदर उलझ गई हैं कि उनको सुलझाने में कठिन पुरुषार्थ की अपेक्षा है इन कषायों के बंदन इस तरह आत्म स्वस्व पर चढ़ गये हैं कि आत्मा को उसके अपने स्वस्व से पहचानना भी कठिन हो गया है एक स्वस्ववती आत्मा इतनी कुसुम बन जाये इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कषायों के रंगों में सराबोर होकर यह आत्मा निज स्वस्व को एक दृष्टि से भूल ही गई है।

प्रभु महावीर ने इस तथ्य को पहचाना तथा स्वयं ने अपने आत्मिक स्वस्व की परिपूर्ण अवस्था प्राप्त की। उस परिपूर्ण अवस्था में पहुंच कर उन्होंने संसार को भी उपदेश दिया कि हे भव्य जनों, तुम भी यदि अपनी आत्मा का मेरी आत्मा के तुल्य पवित्र रूप बनाना चाहते हो तो कषायों से छुटकारा पाने की बात को पकड़ें और सबसे पहले इस लोभ से दूर हटो। उन्होंने कहा-

लोभाविले आययई अद्वां

उत्तरा-32/29

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने फरमाया है कि यह लोभ इन आठों क्रूर कर्मों की जड़ में रहा हुआ है। लोभ और माया की क्लृप्त वृत्तियों में आत्माएं अपने आपको रंग रही हैं। इन रंगों में रंगने के कारण ही ये आत्माएं नहीं ग्रहण करने योग्य तत्वों को भी ग्रहण करने के पीछे देह लगा रही हैं। ये नहीं करने योग्य कर्मों को भी कर रही हैं ये नहीं जाने योग्य स्थानों पर भी जा रही हैं और इनके कर्तव्याकर्तव्य तथा हिताहित का भान भी नहीं रह गया है। लोभ आदि कषायों का गाढ़ रंग चढ़ कर ये कुसुम बन गई हैं।

लोभ आदि कषायों के दुष्चक्र में आत्मा की ग्रस्तता

इस विकरल लोभ के संसार में अनेकानेक स्व देखने को मिलते हैं जागरूक आत्मा भी सावधानी रखते-रखते किसी स्व में उलझ जाती है ऐसे ही क्रोध, मान माया लोभ के स्व हैं जो आत्म स्वयं पर अपना रंग उड़ाने को तैयार रहते हैं ये स्व अलग-अलग तरह से अपने अलग-अलग कर्म इस आत्मा से क्यते रहते हैं और इन कषायों के दुष्चक्र में आत्मा इस प्रकार ग्रस्त हो गई है कि उसमें से उसका निकल पाना इच्छामूलक ही नहीं, परम पुरुषार्थ-मूलक हो गया है

आप कभी सोचें कि यदि इस लोभ को छोड़ देंगे तो हम गृहस्थाश्रम में कैसे रहेंगे? और गृहस्थाश्रम में नहीं रहेंगे तो क्या साधु बन जायेंगे? सभी साधु बन जायेंगे तो संसार कैसे चलेगा? तो क्या आपको ज्यादा फिर संसार की है स्वयं की आत्मा की नहीं? संसार की फिर भी हो तो कोई बात नहीं, लेकिन मूल में अपनी कषायों की फिर है-अपनी विकृति की फिर है। शायद यह चाह है कि संसार विकरल रहे और उसमें मैं खुं इसलिये कह यह जाता है कि सब साधु बन जायेंगे तो संसार का कर्म कैसे चलेगा? संसार की सार संभाल आपके जिम्मे नहीं है बुद्ध का काम बुद्ध देखती रहेगी। ज्ञानीजनों ने कह है कि यदि आप संसार में रहना पसन्द करते हैं और इतना साहस नहीं है कि साधु जीवन को अंगीकर करके आत्म-पट को स्वच्छ बना लें तो गृहस्थाश्रम को भी उच्चस्तरीय बना कर चलो यह नहीं कि गलियों में घुसते फिरें और पता नहीं चले कृद्व आ रहा है तो संसार का भार सन्तान को देकर अपनी आत्मा को कषायों के दुष्चक्र में से बाहर निकलने का यत्न करें

संसार में रहते हुए आप को कषाय चाहिये और लोभ भी चाहिये तो नीति कहती है कि इन वृत्तियों में जो अतिपना है कम से कम उसके तो छोड़ अति लोभ भी नहीं करना चाहिये कह है-

अतिलोभो न कर्तव्यः लोभं नैव परित्यजेत्।

अतिलोभाभिभूतस्य, चक्रं भ्रमति मस्तके।

जिन पदार्थों की शरीर केलिये आवश्यकता है परिवार के पोषण केलिये जिन पदार्थों की आवश्यकता है उन पदार्थों को छोड़

में इसको अन्यत्र गड़बूंगा। स्थान उसको श्मशान ठीक लगा जहां कोई देखने वाला नहीं रहता है। दूसरे दिन दोपहर में वह चरू को लेकर श्मशान में पहुंचा-एक गहरी खड्ड खोद और उसमें चरू को छिपा दिया। बाद में उसने देखा कि एक छतरी में भिखमंगा सोया हुआ था। अब वह आशंकित हुआ कि कहीं उसने चरू को गड़बूते हुए देख न लिया हो वरना वह उसे निकाल कर ले जायेगा। वास्तव में भिखमंगा सब देख रहा था लेकिन उसने सेठ को अपनी तरफ आते हुए देखा तो अपनी सांस को मस्तक में चढ़ कर मुर्दे की तरह पड़ रहा। सेठ पास में पहुंचा, उसके हिलाया झुलाया, उसकी अंगुली नाक और कान की लोल तककरी पर भिखमंगा मजबूत रहा और सेठ ने परीक्षा करली कि वह तो मुर्दा है सन्तुष्ट होकर सेठ वहां से चला गया।

सेठ के चले जाने के काफी समय बाद भिखमंगा उठ, उसने अपने घावों को ठीक किया और वहां से धन के उस चरू को निकाल कर अपने स्थान पर ले गया तथा वहां उसने उस चरू को गड़ दिया। चरू के ऊपर कुछ हीरे की अंगूठियां थी, उनमें से एक पहिन ली और कुछ को लेकर वह सोनार के पास पहुंचा। उसके उसने कहा-मैं हीरों की कीमत जानता नहीं हूँ तुम ही ईमानदारी से इसकी कीमत लगा कर मुझे दे दो। इतने में ऊपर से सेठ निकला तो उसने देखा कि ये तो अंगूठियां उसी की हैं। सेठ ने सोनार से खुद रुकने और उस आदमी को भी रोक लेने को कहा तथा भागा-भागा श्मशान पहुंचा। वहां चरू नहीं मिला। वापिस आकर उसने उस आदमी को पकड़। आखिर मामला राजा के सामने पहुंचा। राजा ने दीवान जी को न्याय करने को कहा।

दीवान जी ने उस भिखमंगे से पूछ-सच्ची-सच्ची बात बता दो। उसने कहा-मैंने तो सौदा किया है, अपनी वस्तुएं देकर धन लिया है। मैंने कोई चोरी थोड़े ही की है। मैंने अंगुली दी, नाक दी, कान की लोल दी। यह कह कर उसने अपने कटे हुए अंग दिखाये। सेठ ने भी उस घटना की सत्यता स्वीकार करली। तब भिखमंगे ने कहा-सेठ जी मेरी चीजें मुझे वापिस दें तो मैं भी उनका धन उनको

मानव जीवन: एक विराट् वृक्ष

श्री सुप्रार्थ जिन वंदिए.....

इस मानव जीवन की गहनतम वृत्तियों को पहचानने के लिये गहनतम विचार की अपेक्षा है किन्तु धारा जहां अरर से अरर के स्तरों में चलती है तो वह स्थूल पदार्थों का विवेक करती हुई भीतर के परतों में प्रवेश करती है तथा अपने निज स्वस्व का साक्षात्कार करती है यही किन्तु धारा कभी-कभी इतनी उच्चतम एवं उत्कृष्ट श्रेणियों में प्रवाहित हो जाती है कि जन्म जन्मान्तरों और वर्षों का काम फलों में ही पूरा हो जाता है तथा वह मानव जीवन की संपूर्ण सार्थकता को सिद्ध कर देता है

सामने रख वृक्ष बहुत बड़ा दिखाई दे रहा है लेकिन जानते हैं कि इस वृक्ष की उपति कहां से हुई? वृक्ष का मूल कारण किन्तु बड़ा है अरर की लहरियों और परतियों को देख कर साधारण व्यक्ति सोच सकता है कि इतना बड़ा वृक्ष है तो इस का बीज भी बहुत बड़ा होगा। लेकिन बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि जहां तक बीज का प्रश्न है वह अति ही छोट स्वयं में होता है जितना बड़ा वृक्ष होगा, उसका बीज उतना ही छोट होगा। वर्तमान वृक्षों में बड़ा वटवृक्ष बहुत बड़ा होता है आम और अन्य वृक्षों की अपेक्षा भी वटवृक्ष का घेराव बहुत अधिक होता है लेकिन उसका बीज आपने देखा है? वटवृक्ष का बीज यदि से भी छोट होता है धूल में पड़ा हुआ वह बीज सहसा दिखाई नहीं देगा, लेकिन उसी छोट से बीज की बढैत एक विशाल वृक्ष लहलहने लगता है इसी स्वयं में मानव जीवन एक विशाल वृक्ष के मानिन्द है जिसका बीज छोट होता है लेकिन जब लहलहाता है तो अपनी शीतल एवं शान्ति दायक छाया से संपूर्ण विश्व तक को घेर सकता है

मानव जीवन की विशालता दुर्लभता और श्रेयस्करता

इस मानव जीवन की ओर आप वृक्षों के अगम भाष में वह गया है

‘माणसां सुदुर्लभं’

मनुष्य जीवन दुर्लभ है नरक की अपेक्षा अति उत्तम, पशु योनि से श्रेयस्कर तथा देव योनि से भी श्रेष्ठ इस मानव जीवन को जिस अपेक्षा से दुर्लभ कहा गया है, उसके विषय में यदि आप चिन्तन करें तो उस दुर्लभता की सही प्रतीति आपको हो सकती है यह दुर्लभता शरीर के रंग रूप से आंकने की बात नहीं है न उम्र की पोशाक और साज सजावट से इसका ज्ञान होता है इस मानव जीवन की इसकी आन्तरिकता की जो वियता और दुर्लभता ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखी है और बताई है उसका गहरा अध्ययन और अनुभव करने से ही वह किसी की भी अनुभूति में आ सकती है

मानव जीवन की शक्ति के माध्यम से ज्ञान और कर्म की जितनी वियता उपलब्ध की जा सकती और प्रकट की जा सकती है उतनी अन्य किसी भी जीवन में नहीं की जा सकती है मानव जीवन इस रूप में इतना शक्तिशाली होता है किन्तु इसकी शक्तियां दबी और छिपी हुई होती हैं जिन्हें अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से प्रकट एवं सक्रिय बनानी होती है। ये शक्तियां जब जीवन में प्रकट हो जाती हैं तो वे इस मानव जीवन को अत्यन्त भव्य स्वस्व प्रदान कर देती हैं। तब यह मानव जीवन वियाट भी दिखाई देता है और श्रेयस्कर भी। उस स्वस्व की आन्तरिक अनुभूति जितनी गहरी बन जाती है तब स्पष्ट अनुभव होता है कि यह मानव जीवन कितना दुर्लभ है क्योंकि ऐसा स्वस्व किसी अन्य जीवन में प्राप्त नहीं होता है। यह विचार जब आ जाता है और यह प्रतीति हो जाती है कि यह जीवन दुर्लभ है तो इसके सदुपयोग की सतर्कता भी पैदा हो जाती है इस रूप में मानव जीवन की दुर्लभता श्रेयस्करता तथा वियता ये तीनों परस्पर सम्बन्धित तथा अन्योन्यश्रित होती हैं

मानव जीवन को प्राप्त करके भी जो अपने आप को हीन या क्षुद्र ही समझ कर चलता है वह एक प्रकार से शक्तिहीन ही बना रहता है और इस अमूल्य जीवन को निरर्थक कर देता है शक्तिक पुंज होने हुए भी अपनी उस शक्ति से अपरिचित रह जाने को महान् दुर्भाग्य के सिवाय और क्या कह सकते हैं ?

आपकेसमक्ष अभी प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण किया गया। प्रार्थना का अभ्यास आपकेजीवन में ढल रहा है। आप देखें कि यह अभ्यास कोरी आदत केरूप में न रह जाय, बल्कि इस अभ्यास से ज्ञान दृष्टि का विकास होना चाहिये। जब प्रार्थना के अभ्यास से आप का अन्तर्ज्ञान प्रसृति हो- आपका अन्तर्व्ययण जागृत बने तब समझिये कि यह प्रार्थना वह प्रारंभिक तैयारी है जिसके धरातल पर मानव जीवन के विराट् वृक्ष को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलित बनाया जा सकता है।

मानव जीवन में कर्मता चाहिये

ज्ञान शक्ति के माध्यम से प्रार्थना के स्वस्व को तथा उसके माध्यम से परमात्म स्वस्व को मन मसिष्क में उतारना एवं उसके आशय को हृदयंगम करना यह मानव जीवन में श्रेष्ठता को साधने का प्रारंभिक प्रयास है। सहसा व्यक्ति प्रार्थना के शब्दों को ही पकड़ पाता है। वह देखता है कि ये शब्द ही प्रार्थना के समग्र रूप में हैं। सो मैं इन्हीं को प्रार्थना मान कर भगवान् से अपनी याचना कर लूं। लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि एक सच्चे भक्त को भगवान् से कोई याचना नहीं करनी चाहिये। मानव तो स्वयं भगवान् का रूप होता है, वह छोटी मोटी याचना करके वैसी उपलब्धि करले और सन्तुष्ट हो जाये तो समझिये कि मानव ने अपने जीवन का मूल्यांकन ही नहीं किया है। वह समझ ही नहीं पाया है कि उसके जीवन में अन्तर्निहित शक्ति कितनी महान् और दिव्य है?

मानव जीवन में तो ज्ञान दृष्टि एवं वृद्ध आस्था के साथ कर्मता हेनी चाहिये। एक साधक को अपना कर्म तदस्थ भाव से करते रहना चाहिये। उसके मन में भी फल के प्रति याचना भाव नहीं आना चाहिये। कर्मता यदि जीवन के साथ घुल मिल जाती है तब फल तो अपने आप ही मिल जाता है। गीता में भी कहा है-

कर्मप्रेवाधिकरस्ते, मा फलेषु कदाचन।

कर्म करना अपने अधिकार में है इसलिये फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। मनुष्य कर्तव्य करने का अधिकारी है फल पाने का नहीं। प्रार्थना शब्द का अर्थ याचना कभी नहीं समझना चाहिये यदि याचना का अर्थ लिया जाता है तो वह उसका गलत अर्थ है। प्रार्थना का ऐसा अभिप्राय कभी नहीं निकलता है। प्रार्थना परमात्म स्वस्व के प्रति भक्ति रस में आत्म विभोर होकर ही की जा सकती है। इसके पीछे तात्विक जिज्ञासा की दृष्टि भी रहती है। भक्ति के कई प्रकार हैं और भक्ति की कई विधियां हैं, लेकिन उसका मूल अन्तर्भाव यही है कि आत्मा परमात्मा के साथ एकरूप बने।

मानव जीवन के अन्तर्गत विस्तार को पाने के लिये ही एकात्मता आवश्यक होती है इसमें जिज्ञासा भक्ति तथा ज्ञान भक्ति की विशेषता मानी गई है। ज्ञान भक्ति की कटि जिज्ञासा भक्ति से उन्नी होती है। ज्ञान भक्ति की प्रार्थना अपने जीवन की गहनतम समस्याओं को सुझाने के लिये ही है। आन्तरिकता को जानने तथा उसके रहस्यों को ढूँढने के लिये ही है। सही ज्ञान की उपलब्धि बुनियादी तौर से जरूरी होती है क्योंकि सही ज्ञान नहीं होता तो स्वस्व निर्णय नहीं होता है और उसके प्रति आस्था का दृढ़करण नहीं बनता है। सही ज्ञान के प्रकाश में ही लक्ष्य के प्रति उत्साह जागृत होता है एवं कर्मता सक्रिय बनती है। पुरुषार्थ की सफल प्रेरणा सच्चे ज्ञान से ही होती है तथा सच्चे ज्ञान से ही फल की इच्छा समाप्त होती है। जहां फल की कामना नहीं है तथा निष्काम कर्म किया जाय, वहां मानव जीवन का विस्तार स्वयं अत्यन्त ही उपस्थित किया जा सकता है।

सभी मानव सुख चाहते हैं, लेकिन सुख कहां मिलेगा ?

जब इस आत्मा ने मानव शरीर में निवास किया है ज्ञान शक्ति उसके साथ ही मिली है। यह स्थायी भाव के रूप में है। स्थायी भाव जन्म जात भी होते हैं और अर्जित भी होते हैं। मानव जीवन में ज्ञान का विशिष्ट स्थान होता है उसका ज्ञान अन्य प्राणियों

की अपेक्षा सर्वोन्नत होता है तो वह उस ज्ञान को सर्वोच्च स्थिति तक भी ले जा सकता है। उसी ज्ञान की दृष्टि से वह सुख की अभिलाषा बनाता है। यह दूसरी बात है कि उसकी ज्ञान की धारा शुभता की ओर बहती है अथवा अशुभता की ओर। जैसा उस धारा का स्वरूप होगा, वैसे ही सुख का विचार होगा। लेकिन ज्ञान के अन्तर्गत जब सुख का शब्द कर्ण के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुंचता है तो स्वाभाविक रूप से इस जीवन की प्रक्रिया में अज्ञान आ जाती है। प्रत्येक मानव सुख चाहता है दुख को मिटाना चाहता है तथा अपने जीवन को सुख से भर देना चाहता है।

लेकिन यह सुख क्या है? कैसा है और कहां मिलेगा? दुख किस अवस्था का रूप है तथा वह क्यों सताता है? सुख और दुख का सही भाव कैसे हो? इसका वास्तविक विज्ञान पत्रि बुद्धि के साथ परमात्म द्वारा बताये हुए मार्ग का अनुसरण करने पर ही हो सकता है। आज का इंसान बातें खूब कर सकता है पर वह कलना पसन्द नहीं करता भाषण दे देगा मगर अनुसरण करना नहीं चाहता। वह आराम चाहता है और आराम में सुख का अनुभव करता है। यदि मेहनत करनी पड़ती है तो वह सोचता है कि मैं दुखी हूँ प्रतिकूल बात सामने आती है तो व्यक्ति उद्वेलित हो जाता है। देखता है कि सामने बाधा आ गई है और वह दुखी हो उठता है। वह उस दुख से छुटकारा पाना चाहता है, फिर भी पुरुषार्थ से कतराता है। पुरुषार्थ नहीं तो सुख कहां से मिलेगा?

एक व्यक्ति फल का रस लेना चाहता है लेकिन फल को नहीं चाहता है। यह कैसे हो सकता है? जब फल का रस चाहता है तो फल भी चाहना पड़ेगा—फल को छेड़ कर रस कैसे प्राप्त कर सकेगा? दूसरी तरफ दृष्टिगत करें तो दूसरा व्यक्ति फल के रस से घबराता है लेकिन फल को पकड़ करके चलता है। इन विरोधी वृत्तियों को समझने की आवश्यकता है जिससे शरीर की ब्याधि का स्वरूप स्पष्ट हो सके जब तक वृत्तियों में यथार्थता और समरसता का समावेश नहीं

होता है तब तक सुख की सही अनुभूति भी नहीं हो पाती है। सुख को चाहना एक बात है लेकिन सुख की प्राप्ति के लिये सही प्रयत्न करना तथा सच्चे सुख को प्राप्त करना दूसरी ही बात होती है।

आज का मानव मानव की तरह नहीं जी रहा है

आज की दुनिया की वृत्तियां विचित्र ढंग से चल रही हैं। आज मानव जीवन जिया नहीं जा रहा है लोग जैसे-तैसे जी रहे हैं जिया जाने में और जीने में बड़ा अन्तर पड़ता है। एक तो मनुष्य अपने जीवन को स्वाभाविक गति से जिये और एक उसी जीवन को पशु की तरह जिए सामान्यतः आज का मानव-मानव की तरह नहीं जी रहा। आत्म-चेतना जागृत हो और वही सम्पूर्ण जीवन का संचालन करती हो, तब कहा जायेगा कि मानव अपना जीवन जी रहा है। अन्यथा अपनी चेतना शक्ति को संज्ञाशून्य बना कर जो जीवन जिया जाता है वह जीवन पशुवत् ही होता है। ऐसा जीवन मनुष्य जैसे-तैसे जीता है।

आज का मानव आत्म विस्मृत अवस्था में अधिक जीता है-सावधानी पूर्वक विकेक के साथ जीने का अवसर बहुत कम आता है। इसका कारण यह है कि वह फल के रस से घबराता है-उसको छेड़ना चाहता है लेकिन फल को ग्रहण करना चाहता है। वह फल भी मीठा नहीं, कड़वा है। नीम का फल देखा है आपने, जिसको निम्बोली बोलते हैं? निम्बोली के भीतर एक गिरी होती है, उसका जायका कभी आपने चखा है? उसका रस कड़ुका होता है। नीम के कड़वे रस को कोई नहीं चाहता हर कोई मीठा रस लेना चाहता है। निम्बोली पकने पर ऊपर से मीठी हो जाती है तो उस मीठे रस को तो ले लेंगे कड़वी गिरी को छेड़ना चाहेंगे। फिर भी कड़वापन भीतर में बैठा हुआ है सो आयेगा अवश्य।

ऐसा ही मानस आज के मानव का बना हुआ है। अधिकांश मानव दुःख स्वी रस को छेड़ना चाहते हैं लेकिन दुःख का जो फल है उसको ग्रहण करते रहते हैं। दुःख से घबराते हैं पर फल से नहीं

घबरायें। जब फल को ग्रहण किया जायेगा तो उसमें रहे हुए रस से कैसे वंचित रह सकेंगे? आप पूछेंगे कि दुःख किसका रस है? दुःख मोह स्वी फल का रस है। मोह आप को अच्छा लगता है, जैसे निम्बोली के अमर का रस अच्छा लगता है। मोह में आप रात दिन खगल कर रहे हैं। अधिकांश लोगों के मन में यह मोह सारी जगह घेर कर बैठा हुआ है। यह जीवन का केन्द्र बिन्दु बन गया है। यह केन्द्र बिन्दु ही घोर दुःख का कारण बना हुआ है। फिर भी मनुष्य इस मोह का परित्याग करने के लिये तत्पर नहीं बनता है।

अमर से सभी स्तरों पर मानव यही दिखाता है कि वह समाज या राष्ट्र आदि की भलाई के लिये कार्य कर रहा है। लेकिन मन के तले में बैठा यह मोह उसके जीवन को स्वार्थी के घेरे में घेर कर संकुचित बनाता रहता है। जीवन का वस्तुतः विस्तार होना चाहिये। लेकिन मोह दशा के कारण उसका संकोच होता जाता है। यदि दृष्टि अन्दर में पहुँचे तथा ज्ञान वृद्धि हो जाये, तब ही पता चले कि यह मानव जीवन अपने स्वाभाविक विस्तार की तरफ बढ़ रहा है या मोहग्रस्त होकर संकुचित स्वरूप की तरफ जा रहा है। यह सारी प्रवृत्ति बाहर से हो रही है। बाहर से इसको बनाने वाला मोह है। जिस व्यक्ति ने नशा कर लिया और नशा दिल दिमाग पर छ गया तो उसका जो भी प्रवृत्ति की जायेगी, उसकी वह स्वयं सही परीक्षा नहीं कर सकेगा। दूसरे भी उसका वह जो भी बात बोलता है उसको नहीं मानते हैं। वह अच्छी से अच्छी बात बोलता तब भी कोई समझदार यही समझेगा कि नशेबाज का क्या भयेगा। दूसरे ही क्षण वह बुरी बात भी बोल सकता है। बुरा कार्य भी कर सकता है। कभी वह माता को माता कह देता है तो कभी वह पत्नी को माता कह देता है। इसलिये कि वह नशे में है।

यह बाहरी नशा है। एक मोह का नशा है जो अद्भुत कर रहा है और इसी नशे के कारण आज का मानव मानव की तरह नहीं जी पा रहा है। कच्चा फल ले लेंगे तो कच्चा रस जरूर मिलेगा।

निम्बोली की तरह मोह स्वी इस कच्चे फल को ले लेंगे तो अखिर

जाकर कच्चा रस जरूर मिलेगा। मोह का नशा करलें और जीवन अस्वस्थ न बने-यह कैसे हो सकता है? आज सारी दुनिया मोह के इस नशे में डूब रही है। मोह का यह नशा भीतर तक उतर कर आत्मविस्मृति की अवस्था उपलब्ध कर देता है। हकीकत में मोह का विवेकशून्य प्रभाव आत्मा पर ही पड़ता है जैसे मदिरा आदि के नशे से यह शरीर शून्य हो जाता है, जैसे ही मोह के नशे से आत्मा संज्ञा शून्य सी बन जाती है। जब बाहर का नशा ही पड़ता है तो भला भीतर के नशे से पिंड कैसे और कब छूटेगा?

अन्दर में रहने वाले तत्वों को पहचानते नहीं हैं इसलिये आत्म विस्मृति की दशा से ऊपर भी नहीं उठ पा रहे हैं। मोह का रस पीने को लालायित बने रहते हैं लेकिन जब उसका परिणाम दुःख रूप में प्रकट होता है तो उस फल से घबराते हैं। जब दुःख का काम करेंगे तो दुःख क्यों नहीं आयेगा? जब कच्चा फल ले लेंगे तो कच्चा रस कैसे नहीं मिलेगा? नीम का फल तो ले लिया, ऊपर का जायका मीठा निकला तब तक तो खुशी हुई लेकिन जब भीतर से कच्चा हट आई तो हाय-हाय करने लगे। मोह की दशा के कारण मानव का ऐसा विकृति स्वभाव बन जाता है।

एक सेठ बाजार में दुकान पर बैठा हुआ ग्राहकों से बातें कर रहा था। सहसा बच्चे ने आकर सूना दी कि गोदाम में आग लग गई है गोदाम में माल भर हुआ है उस समय उस सूना को पकर सेठ की क्या मनेशा होगी? पहले वह प्रसन्नता पूर्वक बैठा हुआ था। फिर यह समाचार सुनते ही उसको दुःख हुआ किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसे याद आया कि इस गोदाम का तो बीमा कराया हुआ है तो उसका वह दुःख भी मन्द पड़ गया। उसने सोचा कि यह नुकसान भय नहीं, बीमा कंपनी का हुआ है मुझे तो नुकसान के जैसे बीमा कंपनी से मिल जायेंगे पहले दुःख हुआ और फिर दुःख चला गया- इसमें क्या रहस्य था?

एक पुरुष दुकान पर बैठा हुआ है और विदेश से उसके फुल की मृद्यु

हो जाने का तार आया। वह उसे पढ़ते ही अत्यन्त दुखी हो गया— उसे मूर्ख सी आने लगी। इतने में मुनीम जी ने जानकारी दी कि वह पुत्र आपका निजी नहीं था। हुआ तो आपकी पत्नी से ही है लेकिन वह किसी दूसरे व्यक्ति की सन्तान है यह बात जानते ही उसके जो भीषण दुःख पुत्र वियोग से हो रहा था, वह रहेगा या चला जायेगा? उसके उस समय दुःख के बदले रोष पैदा हो जायेगा, बल्कि वह शस्त्र लेकर खड़ा हो जायेगा कि पुत्र गया सो ठीक, उसकी दुःखारिणी पत्नी भी क्यों रहे? देखिये दे क्षण पहले भयंकर दुःख था और वह बाद में क्यों चला गया?

अब इन दोनों स्थितियों का विश्लेषण कीजिये जहां गोदाम के कारण सेठ का ममत्व था कि यह मेरा गोदाम है। मोह ने जोर पकड़ और दुःख चला आया। पता चला कि मुझे सम्पत्ति की हानि नहीं है तो दुःख वापिस चला गया। इसी तरह मेरा पुत्र मर गया है— यह जानते ही घोर मोह उमड़ और भयंकर दुःख होने लगा लेकिन ज्यों ही पुत्र के आगे से मेरा शब्द कट गया तो सारा दुःख चला गया। तो आप समझ गये कि दुःख कैसे आता है और कैसे चला जाता है? दुःख का कारण मोह होता है। इस मोह को वैचारिकता के साथ भी समाप्त किया जा सकता है। कड़ा रस हटाया जा सकता है।

सुख चाहिये तो मोह छोड़िये

दुनिया नीम के फल को पकड़ रही है और चाहती है कि सुख और शान्ति मिले, किन्तु यह हो कैसे सकता है? मोह और दुःख का तो जोड़ है। यह शास्त्रीय पाठ में आया है कि जिसको मोह हो रहा है, उसको दुःख हो रहा है और जिसका मोह चला गया तो उसका दुःख भी चला गया। मोह चला गया तो तृष्णा नहीं रहेगी और तृष्णा का बीज नहीं रहा तो लोभ का झाड़ भी नहीं लगेगा। इस तरह से दुःख के ये जितने बीज, वृक्ष, फल और रस हैं, उनको

छेंगे, तभी सच्चा सुख मिलेगा। तलवार की धार पर लगे शहद को चाबने जायेंगे तो शहद का स्वाद तो आवे या नहीं आवे, मगर जीभ जरूर कट जायेगी। मछली आठ देखकर कटे की तरफ लपकती है और कटे में फंस जाती है। मोह का दीवानापन भी ऐसा ही होता है।

एक नगर में दो पड़ोसी थे। दोनों बड़े प्रेम से रहते थे, जैसे एक घर में रह रहे हों। एक पड़ोसी के यहाँ संपत्ति बढ़ गई और दूसरे के यहाँ संपत्ति का अभाव खटने लगा। दूसरे के मन में तृष्णा जागी कि मेरे पास भी इतना ही धन हो जावे। एक दिन धनवान पड़ोसी की लड़की जेवरों से लदी हुई गरीब पड़ोसी के घर में आई। तृष्णा का बीज बढ़कर गरीब पड़ोसी के मन में लोभ का झाड़ू फैल गया था। उसने उस बच्ची की हत्या करके सारा जेवर ले लिया और लाश को कोठे के नीचे दबा कर ऊपर पक्कड़ इन्तजाम कर लिया। धनवान पड़ोसी अपनी बेटी के बारे में बहुत चिन्तित हुआ और जब उसका पता नहीं चला तो उसने पुलिस में रिपोर्ट कर दी। गरीब पड़ोसी सोचने लगा कि कहीं मैं पकड़ न जाऊँ- इस डर से ये सारे परिवार वाले धनवान परिवार वालों के साथ समान भाव से दुःख प्रकट करने लगे ताकि वे इन पर शंका न करें। मोह सब नाटक करवा देता है।

उधर पुलिस भी बखर हत्या का पता लगाने की कोशिश कर रही थी। एक दिन गरीब पड़ोसी की लड़की थाली में मिठाई नाश्तिल फुजापा लेकर जा रही थी। पुलिस ने वैसे ही ठेक दिया कि वह कौन है और कहां जा रही है क्योंकि उस दिन कोई त्यौहार या विशेष दिन नहीं था। बच्ची थी, उसने निर्दोष दिल से बता दिया कि वह फलों फलों की लड़की है तथा पिताजी ने मन्गौरी मन्गई थी कि जेस नाम नहीं आयेगा तो देवी को फुजापा चढ़ाया सो मैं फुजापा लेकर जा रही हूँ। पुलिस ने अनुमान लगा लिया। बच्ची को जाने दी और उन्हें जाकर घर पर छापा मारा। चोर के पांव कैसे होते हैं? सारा भेद खुल गया और लाश बरामद कर ली गई।

दुःख और सुख की समीक्षा

श्री सुमार्श्व जिन वंदिए.....

जीवात्मा के लिये जीने देने की दृष्टि से दो ही बातें समझ आती हैं या तो वह सुख से जिए अथवा दुःख के साथ जिए। दुःख और सुख जीवन के दो पथ बन जाते हैं। इन्हीं के सहारे संसार की आत्माएं अपनी-अपनी उड़नें भरती हैं। इसी रूप में अपनी कल्पना की उड़ने अपने मन मनोस्थ की बातें वे रात-दिन अपने मन और मस्तिष्क में संजोए चलती रहती हैं। उनका यही चिन्तन चलता है कि दुःख जावे और सुख आवे। पिता सोचता है कि पुत्र मुझे सुख से समृद्ध बना दे या माता सोचती है कि पुत्र मुझे हर तरह से सुख दे। यह सुख की चाह प्रत्येक व्यक्ति रखता है और इसको दूसरों के आश्रय पर पूरी करना चाहता है। दूसरों के हाथों सुख पाने की उसकी कल्पना कितनी सफल बन सकती है- यह आत्मालोचना का विषय है।

वास्तव में सुख और दुःख की अनुभूतियां अपने ही मन की अवस्थाएं होती हैं। ये अवस्थाएं किन्हीं बाहरी तत्वों पर आधारित नहीं होती हैं। ये तत्व निमित्त कारण हो सकते हैं लेकिन वे निमित्त कारण भी तभी तक होते हैं जब तक कि अपना ही मन भली प्रकार से सथा हुआ नहीं हो। मन में निरपेक्ष भाव समा जाता है तो बाहर के तत्वों से सुख और दुःख की महसूसगिरी खत्म हो जाती है और मन अपने अविनाशी सुख के लिये श्रेष्ठ आदर्श का अनुगामी बन जाता है। निमित्त कारण के रूप में परमात्मा का आदर्श मन को अनुगमित बनाता है। इसी लिये पार्थना में वरिने श्री सुमार्श्व काथ भगवान् को सुख-सम्पत्ति का हेतु बतलाया है। वे भी कारण है कार्य तो स्वयं जीवात्मा को ही करना पड़ा है तथा इस दृष्टि से स्वयं जीवात्मा ही अपने सुख अथवा दुःख की निर्माता होती है। सुख और दुःख इस कारण उसके अपने ही हाथ की अवस्थाएं हैं। एवं वह जीवात्मा अपनी ही मनःस्थिति के आधार पर सुख अथवा दुःख का अनुभव करती है।

करता रहता है जिस वक्त पुत्र पिता को सुख देने की कल्पना करता है उस वक्त पिता दुःख पा रहा होता है। हकीकत में पुत्र के देने से नहीं, लेकिन पिता की आन्तरिक वृत्ति में ही उस सुख को स्वीकार करने की योग्यता नहीं आई अर्थात् पिता अपने मन को भावों को यदि सम बनाने की कोशिश करता है और सोचता है कि यह पुत्र मेरे लिये सुख का साधन जुग रहा है- उसकी भावना मुझको सुख देने की है लेकिन मैं बीच में ही दुःख की कल्पना करके दुःखी हो जाता हूँ इसलिये पुत्र की इसमें कोई जिम्मेदारी नहीं है पिता यदि भावों को सम नहीं बनावे और दुःख की कल्पना करता रहे तो पुत्र भले ही जिन्दगी भर तक भी सुख देने की कोशिश करता रहे फिर भी पिता सुखी नहीं बन सकता है वह दुःख दर्द का अनुभव करते हुए अपने भीतर झाँके और सोचे कि ये दुःख दर्द तो मेरे ही उपार्जन किये हुए हैं तभी उसकी चिन्तन धारा विषमता से हटकर समतामय बन सकती है।

सुख और दुःख का उपार्जन: स्वयं की आत्मा द्वारा

यही आत्मा सुख अथवा दुःख का अनुभव लो समय भूल जाती है कि सुख और दुःख का उपार्जन स्वयं उसी का किया हुआ है। इस जीवन में ज्ञात में या अज्ञात में अथवा इस जन्म से पहले के जीवन में इसी आत्मा ने कुछ ऐसे कर्तव्य किये कि जिन कर्तव्यों से उसके गढ़े कर्मों का बन्ध हो गया तथा अब जब वे कर्म उदय में आये हैं तो उनका शुभ फल सुख के रूप में तथा अशुभ फल दुःख के रूप में प्रकट हो रहा है। पुत्र कितनी ही शान्ति देने की कोशिश कर रहा है लेकिन वह पिता शान्ति का अनुभव नहीं कर पा रहा है। पुत्र का सुख देने का प्रयत्न विफल होगा अथवा सार्थक रहे- आप क्या मानेंगे?

यदि यह सोचा जाये कि सामने वाला व्यक्ति सुखी हो तभी सुख देने वाले का प्रयत्न- उसका पुरुषार्थ सफल रहता है और यदि अगला व्यक्ति सुखी नहीं हो सके दुःखी ही बना रहे तो सुख देने वाले का प्रयत्न विफल होगा- ऐसा कहा जा सकता है परन्तु ऐसा कहना सही नहीं है। यह बात सैद्धान्तिक भी नहीं है। जिसको सुख दिया जा रहा है

उसके मन में यदि शुभ भाव हैं- समता के भाव हैं तो वह अपनी दुःख की अवस्था में भी पुत्र के प्रयासों का निमित्त पाकर सुख का अनुभव करेगा। वह अनुभव करेगा नहीं करे, लेकिन पुत्र ने प्रयत्न किया कि मैं पिताजी को सुख दूँ उस पुत्र को तो अपनी शुभ भावना का लाभ मिलेगा ही। क्योंकि उसका लाभ उसकी अपनी भावना के साथ है जो व्यक्ति अपनी भावना के अन्दर दूसरों को सुख तथा शान्ति देने की सोचता है, उसके लिये शुभ भावों के साथ प्रयत्न करता है तो उसका प्रयत्न शुभ भावों से सम्बन्धित रहने के कारण उसके शुभ कर्मों का बन्ध होगा। उसका फल भी उसको सुख रूप में मिलेगा। सामने वाला व्यक्ति उसके प्रयत्न को उस रूप में नहीं ले रहा है तो वहाँ उसके ही अपने कर्मों का संयोग है, इसमें प्रयत्न करने वाले का कोई दोष नहीं है। प्रयत्न करने वाले का प्रयत्न उस दशा में सफल माना जायेगा। यह बात सुख और दुःख दोनों दृष्टियों से हैं।

एक व्यक्ति सोचता है कि अमुक व्यक्ति मुझे दुःख दे रहा है लेकिन वस्तुतः वह दुःख देता नहीं है। दुःख देने का प्रयत्न वह भले ही करे लेकिन उस दुःख को वह तभी दुःख रूप में अनुभव करता है जब उसके प्रयत्न को वह दुःख रूप में स्वीकार कर लेता है। इसका मतलब यह है कि मुझे वह दुःख दे रहा है- वह इसके भावना में पकड़ लेता है तब उसको अवश्य ही दुःख का अनुभव होने लग जाता है और इसी मनःस्थिति के साथ उस व्यक्ति द्वारा दुःख देने का प्रयत्न करना भी सफल हो जाता है। लेकिन जिसको दुःख दिया जा रहा है, यदि वह दुःख देने वाले के प्रयत्न को दुःख रूप में ही स्वीकार नहीं करता है- उसको दुःख मानता ही नहीं है तो यह निश्चय मानिये कि वह दुःख देने वाला लाख प्रयत्न करे तब भी उस समतावान् व्यक्ति को दुःख नहीं दे सकता है। मानने की मनःस्थिति के साथ ही दुःख का अस्तित्व बनता है। मनःस्थिति जिस रूप में गति करती है, वैसा ही अनुभव होता है और यदि मनःस्थिति निरोद्ध बन जाती है तो सुख दुःख की अनुभूति भी सम हो जाती है- विषम नहीं रहती। इसलिये सुख और दुःख का अपार्जन स्वयं ही आत्मा करती है और जो अपार्जन कर लिया है उसका फल भोग भी इसी आत्मा को करना पड़ता है।

भगवान् महावीर को लोग दुःख दे रहे थे- वे उनको सुख मान रहे थे

भगवान् महावीर दीक्षा लेकर जंगल में पहुँचे वहाँ पर अनार्य व्यक्तियों ने उनको दुःख देने में कोई कमी नहीं रखी। क्या भगवान् को वे दुःख दे सकते थे? उन व्यक्तियों ने कितना कुछ प्रयत्न किया- दुःख देने का कठिन पुरुषार्थ किया, लेकिन भगवान् महावीर को वे दुःख नहीं दे सके। भगवान् को दुःख देने की स्थिति कब बनती? जब वे उस विषय में यह सोचते कि ये मुझे दुःख दे रहे हैं और मैं दुःखी हो रहा हूँ यदि ऐसी स्वीकृति वे दे दें तो अवश्य ही दुःख देने वालों के प्रयत्न भगवान् के लिये भी दुःख के कारण बन जाते। लेकिन भगवान् ने उन्हें इस रूप में कभी स्वीकार ही नहीं किया। दुःख देने वाले दुःख दे रहे थे लेकिन वे तो उन्हें सुख मान रहे थे। वे तो सोच रहे थे कि ये दुःख नहीं दे रहे हैं बल्कि अपने प्रयत्न करके मेरे जीवन की शुद्धि कर रहे हैं और जिससे मुझे सुख दे रहे हैं।

आप सोचेंगे कि साफ दुःख देने के प्रयत्न करने वाले भला उनको सुख कैसे दे रहे थे? एक व्यक्ति अगर सेकनों में कीले ठेक रहा है- वह कीले ठेकने वाला भला सुख कैसे दे रहा था? यह बात आप अग्री तौर पर सोचेंगे तो वास्तव में समझ नहीं पाएँगे क्योंकि समझने की दृष्टि से बाहर का अभ्यास यह पड़ हुआ है कि कोई किसी दूसरे के कर्णों में कीले ठेके तो यही माना जायेगा कि वह उसको दुःख दे रहा है। यह दुःख को मन में पकड़ कर दुःखी बन जाने वाली बात है। लेकिन भगवान् महावीर यह सोच रहे थे कि कर्णों में कीले ठेकने वाला मेरे प्रति कितनी दयालुता का कार्य कर रहा है? वे जान रहे थे कि उन्हें नेवई जन्मों के पूर्व में उस व्यक्ति के कर्ण में उबलता हुआ शीशा डलवाया था और उस समय उसके प्राणों को नष्ट किया था तो वह एक तरह से पापों का कर्ज था जो उन्हें ने लिया था। अब यह व्यक्ति उनको उनके उस कर्ज से बेबाक कर रहा है तो क्या वह उनके प्रति दयालुता का कार्य नहीं कर रहा है? इस रूप में क्या वह उनको सुख नहीं दे रहा था?

कल्पना करें कि एक लेनदार व्यक्ति किसी कर्जदार के पास पहुंचता है उसका लेना है एक करोड़ रुपये का और वह दस हजार रूपयों में ही भरपाई कर देता है तो उस लेनदार को वह कर्जदार क्या समझेगा और दुनिया क्या समझेगी? कर्जदार यही कहेगा कि वह दयालु है जो उसके साथ इतनी भलाई कर रहा है दुनिया भी यही कहेगी कि कितना उदार व्यक्ति है जो एक करोड़ रूपयों की लेनदारी को दस हजार में ही निबट रहा है आप इस बाहरी लेनदारी के बारे में तो इस रूप में सोच लेते हैं लेकिन इसी रूप में आन्तरिक विषय में क्यों नहीं सोच पाते हैं? भगवान् महावीर पूर्ण आन्तरिकता के साथ सोच रहे थे कि मैंने तो इसके जीवन को ही बर्बाद कर दिया, वह तो केवल मेरे कर्णों में कीले ठेक कर ही सन्तोष कर रहा है तो यह उसकी उदारता और दयालुता है या नहीं? वह मेरे को कितना हल्का बना रहा है—मेरी कितनी आत्म-शुद्धि कर रहा है? मैं उसके इस दुःख को आत्म-शुद्धि के रूप में स्वीकार करूँ तो फिर वह दुःख-दुःख ही कहाँ रहता है?

निमित्त तो दुःख का था, लेकिन भगवान् ने उस दुःख के निमित्त को आत्म-शुद्धि के रूप में स्वीकार कर लिया—उसे दुःख के रूप में स्वीकार नहीं किया। इसलिये ग्वाला उनके कर्णों में कीले ठेक कर भी उनके दुःख नहीं दे पाया। उसने दुःख देने का भरपूर प्रयत्न किया, लेकिन लेने वाले ने दुःख लिया ही नहीं तो वह दुःख दे पाया ही नहीं। वह स्वयं तो दुखी होगा लेकिन भगवान् को दुखी नहीं बना सका। उस समय भले ही उसने सुख माना लेकिन मैंने इसके कर्णों में ऐसे कीले ठेके हैं कि यह भी याद करेगा किन्तु इस कार्य से उसने इतने नये कर्म बांध लिये कि उससे उसको कितने दुखों का अनुभव करना पड़ेगा— यह ज्ञानियों के ज्ञान की बात है।

भगवान् महावीर को मानते हैं उनकी भाषा में आप भी सेचिये आप भी अपने जीवन में इस विषय पर भगवान् महावीर की भाषा के साथ सोचने की कोशिश करिये एक व्यक्ति आपको दुःख देने की कितनी ही कोशिश कर रहा है लेकिन आप उसको दुःख के रूप में

कभी स्वीकार न करें यह सोचें कि यह व्यक्ति मेरे आत्म-स्वस्व पर लगे हुए मैल को साफ कर रहा है-भीतर का कचरा निकल रहा है वह मुझे उत्तेजना दे रहा है-दुःख देने की बात कह कर मेरे अन्दर छिपे हुए आवेश को-क्रोध को और उस स्व में जमी हुई मलिनता को उबहा रहा है यदि मैंने क्रोध नहीं किया- उसके प्रयत्न को दुःख स्व में नहीं माना और वह जमी हुई मलिनता अपने स्थान से उठ गई तो क्या मेरे अन्तर्मन की सफाई नहीं हो जायेगी? यह व्यक्ति अपनी दृष्टि से कुछ भी सोच रहा हो, लेकिन मेरे आत्महित की दृष्टि से तो अच्छा ही कर रहा है।

विचार विचार की बात है। यदि शैली को नया मोड़ दे दिया जाता है तो अनुभूति ही नहीं बदल जाती है बल्कि विचारों में दीर्घकाल से समाई हुई विषमता भी हट जाती है और उनमें समता का प्रवेश हो जाता है। यह समता आत्मा को उसके कर्मभार से हलका भी बनाती है तो उसके स्वस्व को समुज्वल भी करती है। यदि इस भावना से पिता सोच ले और माता सोच ले कि उनके लिये उनका पुत्र सदा सुख देने वाला बन जाये तो फिर भले ही पुत्र कभी दुःख भी देगा तब भी वे यही मानेंगे कि उनके पुत्र से उनको सुख ही मिल रहा है। उनके दुःख का अनुभव ही नहीं होगा।

भगवान् सुख सम्पत्ति के हेतु माने गये हैं तो क्या वे किसी को हथपकड़ कर अपने रज्जाने में ले जाते हैं और उसको मुंहमाँगी सम्पत्ति देते हैं? वे ऐसा कुछ नहीं करते। यह सुख की सम्पत्ति अपने ही विचारों में रही हुई है। आज जो दुःख का अनुभव कर रहे हैं, वह भी इन्हीं विचारों में है। अपने विचारों की ही शैली को बदलें तो दुःख का अनुभव सुखानुभूति में बदल सकता है। यह सोचें कि मैं जीवन में जितना धर्मकर्म करूँगा, जितनी शुभ भावना रखूँगा और जितना त्याग प्रत्याख्यान करूँगा, वह सब मेरे लिये सुख का साधन बनेगा। इसी स्व में भगवान् सुख-सम्पत्ति के हेतु बनते हैं जिसके भी मन में भगवान् के स्वस्व की जाग्रति आ जाती है, वह भगवान् के आदर्श को अपने जीवन में उतारना आरम्भ कर देता है। आदर्श को जब वह अपने जीवन में उतारता है तो उसकी विचार शैली में परिवर्तन आ जाता है, तब

वह दुःख के निमित्तों को सुख रूप मान कर चलता है उसके जीवन का दुःख सुख में बदल जाता है। विक्त से विक्त स्थिति भी उसके लिये दुःखदाईन रह कर शान्ति प्रदायक बन जाती है।

यह परिवर्तन कैसे होता है? भगवान् महावीर को आप मानते हैं लेकिन उनकी भाषा में इस विषय पर सोचने का यत्न नहीं करते हैं। यदि ऐसा करने लगे तो जीवन में सुख एक स्थायी भाव बन सकता है और स्थायी भाव ग्रहण कर लेने वाले सुख को ही शाश्वत या अविनाशी सुख की संज्ञा दी जाती है। परमात्म स्वस्व में यही अविनाशी सुख अनन्त सुख बन जाता है। जैसे मनुष्य के मन में इस शरीर के लिये खुशक खोजने का एक प्रकार से स्थायी भाव बना हुआ है। मनुष्य ही नहीं, प्राणी मात्र में यह स्थायी भाव बना हुआ है। पक्षी भी अपने छेँटे-छेँटे बच्चों को खाना जुटाने की कला सिखाते हैं। मनुष्य ने तो इन सारी स्तूत्रों और कल्लेजों के जरिये इस कला को सिखाने की व्यवस्था कर ही रखी है। सब प्राणियों में जीवन निर्वाह की खोज करने का एक स्वाभाविक ज्ञान है। उसी प्रकार आत्म निर्वाह की खोज करने का भी स्वाभाविक ज्ञान जागना चाहिये। इसके लिये भगवान् महावीर की भाषा में सोचना प्रारम्भ कर दीजिये।

आत्मा की खुशक जुटवें, तो सुख दुःख की सही समीक्षा कर सकेंगे।

आप यात्रा के प्रसंग से कहीं बाहर जाते हैं। कल्पना करें कि वहाँ आपके पास जो खाना था, वह खूट गया और वहाँ पर कोई खाना खिलाने वाला नहीं है तो आप भूखे ही रहेंगे या खाने की तलाश करेंगे? वहाँ आपको कोई उपदेश देने वाला आयेगा तभी खाने की तलाश करने के लिये निकलेंगे या पहले ही निकल जायेंगे? यह काम तो आप बिना उपदेश के ही कर लेंगे। किसी के कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी और अपनी रुचि के अनुसार किसी होटल या ढाबे की तलाश कर लेंगे।

शरीर के लिये बिना किसी के चेताए उसकी खुशक की तलाश कर लेना यद्यपि वृद्धि भाव है फिर भी ऐसा बहुत समय से करते चले आने के कारण वह स्वाभाविक जैसा बन गया है। वैसे ही मनुष्य इससे

आत्माभिमुखी सदा सुखी, मृत्यु तक के संकट से निर्भय

जो अपने जीवन का मुख आत्मा की ओर मोड़ देता है उसकी विचारणा का स्वरूप बदल आता है वह बाहर से हटकर अन्तःकरण की गहराई में उतरता है और तब सुख उसके लिये एक स्थायी भाव बन जाता है उस आन्तरिक सुख की अवस्था में कोई भी संकट-यहां तक कि मृत्यु का भय भी और स्वयं मृत्यु भी उसके दुःख का कारण नहीं बन सकती है आत्माभिमुखी सदा सुखी हेकर निर्भय बन जाता है

जहां सन्तों का उपदेश मिलता है उसको मध्यम स्थिति वाले फिर भी अपना देने की चेष्टा रखते हैं लेकिन धनवानों का लक्ष्य उतना तीव्र नहीं बनता है। वे सोचते हैं कि हमको यह सम्पत्ति पूर्वजन्म की पुण्यवानी से मिली है लेकिन जब उनको ध्यान दिलाया जाता है कि अब धर्म नहीं करने से अन्तर्गर्भ का बन्धन हो गया तो आगामी जन्म का क्या होगा? तब वे भी कुछ करने का यत्न करते हैं लेकिन जिन व्यक्तियों ने आधुनिक शिक्षा ग्रहण की है और जो राजनीति में सत्ता प्राप्त करने की लालसा में पड़े गए हैं उनका ध्यान इन उपदेशों की तरफ कम ही जाता है। उनको धन की भूख है, सत्ता और पद की भूख है। हकीकत में वेशीर की खुशक को समझते हैं आत्मा की खुशक को नहीं समझ पाते हैं लेकिन जो आत्मा की खुशक को समझ जाते हैं वे ही सच्चे अर्थों में आत्माभिमुखी या आत्मार्थी बनते हैं और वे ही सुख की ऐसी स्थायी अनुभूति लेते हैं कि किसी भी संकट के सामने उस अनुभूति को मन्द नहीं पड़ने देते हैं।

मुग़ल काल में एक फिरोजशाह नाम का बादशाह हुआ। उसके पास में मानसिंह नाम का एक अहलकार था। बादशाह की उस पर बड़ी मेहरबानी थी। इतनी बड़ी राज्य कृपा के बावजूद वह अपने आत्म-स्वरूप से भूला हुआ नहीं था। वीतराग धर्म की अपासना करने वाले कोई सन्त आते तो वह उनकी सेवा में पड़ता और अपने जीवन में सच्चे सुख को बनारे रखने का यत्न करता। आत्मा की खुशक के उस लक्ष्य था और इसी रूप में उसने श्रावक के बाह्य अंगीकार कर लिये

थे उसकी धार्मिकता को देख कर बादशाह भी आश्चर्य करता था। उसको वह भोग की तरफ मोड़ने की कोशिश भी करता था, लेकिन मानसिंह अपने मार्ग पर मजबूती से चल रहा था।

एक बार ऐसा प्रसंग बना कि दूसरे राजा ने इस राज्य पर चढ़ाई कर दी। बादशाह को भी लड़ाई में जाना पड़ा तो उनके साथ मानसिंह भी गया ही। सामने वाले राजा ने यह योजना बनाई कि बादशाह का कोई विश्वास पात्र आदमी पकड़ जाय जिससे इस राज्य की गुप्त बातें जानी जा सकें। शाम हुई तो मानसिंह कुछ दूर एक तरफ जाकर स्थान शुद्धि करके प्रतिव्रमण करने बैठा तथा आत्म-शोधन में तल्लीन बन गया। बादशाह देखने आया तब भी उसका ध्यान नहीं टूटा। लेकिन बादशाह ने सोचा कि दुश्मन इसको कोई नुकसान पहुंचा सकता है उसने उसकी हिफाजत के लिये वहां संतरी तैनात कर दिये। उन संतरियों को कह दिया जब ये उठ जाये, मेरे पास भेज देना।

मानसिंह जब बादशाह के सामने पहुंचा तो बादशाह ने उलाहना दी कि तू म अपनी धार्मिक क्रिया में ऐसी खतरे की जगह कैसे बैठ गये? मानसिंह ने मुस्कयते हुए उत्तर दिया—यह शरीर आज नहीं तो कल जायेगा— इसमें कोई दुख की बात नहीं है लेकिन आत्मा को आध्यात्मिक ख़ुशकनहीं दी जाय—यह मैं नहीं कर सकता हूँ क्योंकि उससे ही मुझे सच्चा सुख मिलता है। मृत्यु से मैं नहीं डरता हूँ वैसी निर्भीकता थी मानसिंह के मन में और वह क्यों थी? धार्मिक क्रिया के बिना वह एक वर्म भी नहीं रह सकता था और आप सामायिक क नियम लेने से भी भागना चाहते हैं। बादशाह ने पूछा—तुम्हें मृत्यु का भी भय नहीं है तो किस बात का भय है? उसने कहा मैं सिर्फ पाप से डरता हूँ बादशाह ने मानसिंह की सुरक्षा का फिर भी पूर्ण प्रबन्ध कर दिया।

एक दिन इसी प्रकार एकान्त में मानसिंह अपनी सामायिक में बैठा था कि चुपचाप दुश्मन उसको उठा कर ले गये। उसको जेल में डला, यातनाएं दी और सुलग उगलवाने की बड़ी कोशिश की लेकिन मानसिंह पर कोई असर नहीं पड़ा। महीने भर का समय निकल गया,

वह धार्मिक क्रियाओं में तन्मय रहता लेकिन वह राजा बादशाह के कोई भी सुख नहीं जान पाया। आखिर निराशा में मानसिंह को छोड़ दिया गया। बादशाह उसके लिये बहुत चिन्तित थे, आते ही सारा हलचल पूछा और मानसिंह की निष्ठा तथा धार्मिकता से वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्माभिमुखी व्यक्ति हर हाल में सदा ही सुखी रहता है।

दुखों पर आत्मा की मोहर न लगावें, वह सुख सम्पत्ति पा लेगी:

आप चिन्तन करिये कि ऐसा अमूल्य मानव जीवन बार-बार मिलने वाला नहीं है जो साधना का अवसर मिला है, उससे सुख सम्पत्ति की सिद्धि कर लें। एक बात का निश्चय करें कि किसी भी दुख पर अपनी आत्मा की मोहर नहीं लगानी है। याने कि उसको दुख रूप में स्वीकार नहीं करना है। यदि केवल इस बात को ही निभा लें तो दुख दूर हो जायेंगे और आत्मा सुख सम्पत्ति पा लेगी।

भगवान् को प्रार्थना में सुख सम्पत्ति का हेतु कह गया है। सुख सम्पत्ति प्राप्त करनी है तो उसे यह आत्मा ही प्राप्त करेगी—भगवान् का आदर्श तो केवल निमित्त बन सकता है। सूर्य का प्रकाश लेने का अधिकार सबको है लेकिन लेवही सकता है जो अपनी आंखों को खुली रखता है, वैसे ही जो भगवान् के बताये हुए मार्ग पर आरुढ़ होता है, वह उनके हेतु से सुख सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।

चेतना की टिमटिमाती लौ प्रकाश से भर उठे !

श्री सुपाश्वर्ष जिन वंदिए.....

परमात्मा की पवित्र शक्तिके जीवन में अभिव्यक्त करने की दृष्टि से प्रार्थना की पंक्तियों का भी सहारा लिया जा रहा है। कविता की कड़ियां कविता के रूप में हैं लेकिन उसके भावों को हृदयस्थल में धारण करने की बात है। इसके पीछे उद्देश्य यह है कि चेतना की टिमटिमाती हुई लौ उज्वल प्रकाश से भर उठे- अधिक प्रज्वलित बन कर प्रदीप्त हो जावे।

वर्तमान मनुष्य जीवन के इस आत्म-स्वरूप में चेतना की एक लौ टिमटिमा रही है। इसका प्रकाश मन्द सा है किन्तु इस प्रकाश को समग्र रूप से विकसित बनाया जा सकता है। इस छोटी सी लौ को और इसके साथ प्रकाश के स्वरूप को यदि भव्य जन समझ जावे और जिसके लिये इस प्रकाश का अस्तित्व है उस लक्ष्य को भी पहचान लें तो यही आत्मा का आज का मन्द प्रकाश विकसित होकर परमात्म-स्वरूप के देदीप्यमान परमो ज्वल प्रकाश के रूप में परिवर्तित हो सकता है। आवश्यकता इसी बात की है कि इस प्रकाश के महत्व को हृदयंगम कर लें। संसार अन्धकार से भर चुका है उसमें जो कुछ भी मार्ग-दर्शक प्रकाश होता है वह इसी चेतना शक्ति का प्रकाश है, अतः इसी प्रकाश को समझ कर उसको अधिकधिक प्रकाशित करते रहने का ही प्रधान प्रश्न है।

अंधकार की ओर जाना छोड़, प्रकाश की ओर चल !

जब तक चेतना की लौ के रूप में टिमटिमा रहे परम पवित्र प्रकाश को नहीं समझेंगे, तब तक इस प्रकाश का विस्तार नहीं कर पायेंगे। इस असावधानी के साथ यह जो वर्तमान में जैसा भी प्रकाश प्रकट है वह भी विलीन हो जायगा। इस विषय में महावीर प्रभु ने संकेत दिया है-

विना ताणं लभे प्रमत्ते इमं जि लोए अत्तुवा परत्था।
दीवप्पणहे अणंत मोहे णेया उयं वुत्ता वुत्तेवा।

आराध्ययन सूत्र 4/5

जन-मानस को सुन्दर स्वक के माध्यम से अतीव ही सारपूर्ण उपदेश दिया गया है। कहा है- अरे मानव तुझे जिस काम में लगना चाहिये, तू उसमें नहीं लग कर अन्य कार्य में लग रहा है जिस प्रकाश को विकसित करना चाहिये, उस पर तुम्हारा ध्यान नहीं है और तू अन्धकारपूर्ण वस्तुओं के पीछे- धन सत्पति और वैभव के पीछे भाग रहा है, लेकिन यह भी कभी सोचा है कि यह धन, वैभव और परिवार अधिक से अधिक इस लोक में तुम्हारे सहायक हो सकते हैं लेकिन जिस समय तुम्हारी आत्मा अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप नरक और तिर्यक् गतियों में प्रयाण करेगी, उस समय ये सब तुम्हारी आत्मा को वहां जाने से रोक नहीं सकेंगे। व्यक्ति इस धन आदि के पीछे अपनी आत्मा के प्राप्त प्रकाश को भी लुप्त कर देता है- यह एक शोचनीय स्थिति है।

शास्त्रकारों ने दीपक की उपादा देकर इस स्वक को स्पष्ट किया है। वीरान जंगल में एक दीपक टिमटिमा रहा है। वहां रहने वाले व्यक्तियों के लिये वही दीपक सहाय है। यदि उस जंगल में रहने वाले व्यक्ति उस दीपक की सुरक्षा करते हुए उसके प्रकाश को बढ़ाने के उद्देश्य से उसमें तेल और बत्ती की पूर्ति करते हुए चलते हैं तो वे उस घोरतम जंगल को पार कर लेते हैं। वहां से वे एक ऐसे दिव्य द्वीप में पहुंच जायेंगे, जहां उनको प्रकाशयुक्त रत्न प्राप्त हो जायेंगे और फिर उस दीपक की भी आवश्यकता नहीं रह जायगी। लेकिन वे जंगल के निवासी इस रूप में प्रकाश के महत्व को नहीं समझने के कारण उस दीपक की यथोचित सुरक्षा नहीं कर पाते हैं और उस प्रकाश को बढ़ाने की चेष्टा भी नहीं करते हैं। जितने समय तक वह प्रकाश उनके लिये उपलब्ध रहता है वे उस समय का भी सही सदुपयोग नहीं कर पाते हैं उस समय को वे आखेट, वृद्धि आदि में नष्ट कर देते हैं और जब वह प्रकाश लुप्त हो जाता है तो फिर घोर अन्धकार वाले उस जंगल में भटक जाते हैं। उनके लिये फिर से मार्ग को पकड़ पाने का कोई सहाय भी नहीं रह जाता है।

वैसेही संसार रबी वीरान जंगल केबीच में यह मानव जीवन एक दीपक के आत्मीय प्रकाश को लेकर आया है इस शरीर में रहने वाली आत्मा ही अपनी चेतना के इस दीपक को समझे और पहचाने तथा उसके सहारे संसार रबी अत्मी को पार करने का निश्चय बनावे तब तो वह इसको पार करके अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकती है सही मार्ग पर चलते हुए इस दीपक की लौ को बढ़ते रहे तथा उसमें साधना का तेल और आत्म-शक्ति की बत्ती से प्रकाश को अभिवृद्ध बनाते जाँवें तो आत्मा का दिव्य प्रकाश एक दिन पूर्ण रूप से प्रकाशित हो सकता है।

आत्म-ज्ञान का दिव्य प्रकाश जब प्रकाशित हो जायेगा तो फिर अन्धकार में भी सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लग जायेगा। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि तू इस दीपक की लौ को सुरक्षित करते हुये चल रहा है अथवा सांसारिक पदार्थों की तृष्णा में इस दीपक को भूल कर अन्धकार में भटक रहा है? यह तृष्णा तुझे पार लगाने वाली नहीं है और न ही प्रकाश देने वाली है इसलिये अन्धकार की ओर जाना छोड़ तथा प्रकाश की ओर चल !

मोह की दशा में डूमते रहे तो, लौ का प्रकाश भी लुप्त हो जायेगा:

यदि कोई प्रकाश देने वाला है- जीवन को विशुद्ध और उज्वल बनाने वाला है तो वह आत्म-तत्व है यदि इसी आत्म तत्व को मोह-माया के अन्धकार से बाहर नहीं निकाल पाये तो इस अमूर्त्य मानव जीवन में इसकी चेतना शक्ति की किमतिमाती हुई लौ का प्रकाश भी लुप्त हो जायेगा। फिर घतघोष अन्धकार कितना और कब तक रहेगा- इसका कोई अनुमान नहीं है।

संसार के इस अनन्त मोह की कोई थाह नहीं है और एक बार व्यामोहित जीवन पर इस मोह का असर- दिन प्रति दिन बढ़ता ही जाता है जिस पदार्थ या विषय की आप ज्यादा इच्छा करेंगे तो उस पदार्थ या विषय के प्रति आपका मोह अधिक पैदा होगा। यदि मोह का प्रदर्शन

जीवन में अधिक रहा और आप मोह की दशा में ही झूमते रहे तो मोहनीय कर्म का बन्ध विकने से विकना होता जायेगा। शास्त्रकारों ने कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर विवेक किया है व्यक्ति जिस प्रवृत्ति को हृदय में लेकर चलता है उससे पुराने कर्मों की निर्जस करता हुआ नवीन कर्मों को उत्पन्न करता है। यदि वह मोह के अधीन होकर चल रहा है तो वह मोह दशा को ही अधिक प्रगाढ़ बना लेगा और इतनी बढ़ लेगा कि वर्तमान में जो थोड़ा बहुत हेश हवाश बचा है वह भी चला जायेगा।

वर्तमान में मनुष्य जीवन में थोड़ी बहुत सावधानी मालूम हो रही है—कम से कम चेतने पर सोचने का प्रसंग तो आ रहा है। उपदेश की धारा काम करती है तो व्यक्ति विन्तन करने लगता है—क्या करें और क्या नहीं करें? यह मानव जीवन जो मुझे मिला है वह संसार का विशिष्ट जीवन है और इस जीवन में भी यदि आत्म-स्वरूप का विकास नहीं साधा तो फिर ऐसा अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा। संसार का सेवन करता रहा तो संसार को बढ़ने का साधन ही होगा और तब धीरे-धीरे दीपक की टिमिटिमाती हुई लौ भी समाप्त हो जायेगी।

यह विन्तन यदि आत्मा के अनुभव में अंगुरित हो जाता है तो वह व्यक्ति अपने जीवन को अनन्त प्रकाश की दिशा में अवश्य ही मोह लेता है। लेकिन इसको सोचने वाले ही सोचते हैं। जिनके अन्दर की वृत्ति इस महत्व को समझ लेती है वह फिर इस संसार के अन्धकारमय मोह की दशा में झूने की कोशिश नहीं करती है। वह फिर यह भी नहीं देखती है कि चलने में मैं किसी का सहारा खोजूँ वह तो अपने ही दीपक को लौ को तेज करती जाती है तथा आत्म-विकास के पथ पर आगे से आगे बढ़ती जाती है।

महावीर की दिव्य-वाणी का निमित्त और प्रकाश की ओर चल पड़ने का पुरुषार्थ:

पुरुषार्थी पुरुष अपने पुरुषार्थ पर अति विश्वास रखकर प्रकाश की दिशा में आगे चल पड़ा है वह सोचता है कि मेरी जीवन साधना

अकेले भी चलें, लेकिन-प्रकाश की ओर ही चलें

अन्धकार में से निकलने का और प्रकाश की ओर चलने का प्रसंग आवे तो उस दिशा में यदि अकेले भी चलना पड़े तो परवाह नहीं। प्रकाश की ओर अकेले भी चलें तो मार्ग में कहीं साथी मिल जायेंगे। मूल में चलने का संकल्प और पुरुषार्थ अपना होना चाहिये। जो व्यक्ति पुरुषार्थ के बल पर चलता है उसके लिये सहायकों की कमी नहीं रहती है। यह तो एक ऐतिहासिक घटना है जिसको नजदीक से देखना चाहें तो आपको ज्ञात हो सकेगा कि स्वर्गीय आचार्य देव श्री गणेशीलाल जी महाराज ने जिस समय अपना व्रान्तिकारी कर्म उठया था, उस समय कौन क्या था? मैं सारे विषय को नहीं रख रहा हूँ सिर्फ संक्षेप दे रहा हूँ

आज के भाई-बहन सोचते हैं कि क्या करें-मन में खटक है लेकिन आत्मिक अथान करने का समुचित संयोग नहीं मिलता है-अनुमूल वायुमंडल नहीं है। मैं तो उनको संकेत देता हूँ कि यदि बाहर के वायुमंडल को देखते रहेंगे और अपने भीतर के वायुमंडल को नहीं पहचानेंगे तो बाहर के वायुमंडल के सहारे ही वे अपने दीपक को अधिक समय तक के लिये प्रज्वलित बनाये हुए नहीं रख सकेंगे। फिर भी बाहर के वायुमंडल का भी अपने स्थान पर वैसा महत्व तो होता ही है। बाहर का वायुमंडल भी यदि अनुमूल नहीं है तो उसको परिवर्तित, अथवा स्थानान्तरित करने की क्षमता भी भीतर के वायुमंडल में ही होती है। यह इंसान के हाथ की बात है कि वह अपने भीतर की ताकत से बाहर के वायुमंडल को बदल सकता है। ऐसे साहस की स्थिति का प्रसंग जिनके भी जीवन में आता है और वे साहसपूर्वक वैसा करके दिखा देते हैं तो उनकी आत्म-शक्ति एक आदर्श रूप ले लेती है।

शंभूजी महारसती का प्रसंग था। गृहस्थ अवस्था में उनकी कुछ ऐसी विकट परिस्थिति थी कि उनका जीवन चरित्र देखें तो पता चलेगा। उनको कोई भी सहाय को वाला नहीं था लेकिन उनका संकल्प दृढ़ था तथा साहस अपूर्व था। वे उस साहस के बल पर अपने शीलव्रत को सुदृढित रखती हुई अपने सारे जीवन को सुदृढित बना गईं तथा महारसती का रूप धारण कर गईं।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज साहब का जीवन-वृत्ति भी ऐसा ही है कि प्रारम्भ में उनका कोई सहायक दृष्टिगत नहीं होता था लेकिन जब वे अकेले ही साधना-पथ पर तीव्रता से चल पड़े तो अनेकानेक सहायक मिल गये सिर्फ अपनी ही आत्म-शक्ति को पहले मोड़ने की आवश्यकता होती है साधारण अवस्था में रहनेवाली आत्मा भी इस शक्ति को मोड़ देकर जब साधना पथ पर चल पड़ती है तो अपने ही सहारे के आधार पर वह निरन्तर प्रगति करती रहती है और दूसरों के लिये भी प्रेरणादायक वायुमंडल का निर्माण कर देती है।

साधना के पथ पर अकेले हैं तो अकेले ही चल पड़िये—किसी साथ या सहायता की अपेक्षा मत रखिये स्वश्रय ही सब से बड़ा श्रय होता है और स्वश्रय ही जीवन के अस्थान का मूल समबल होता है। अकेले भी चले लेकिन प्रकाश की ओर ही चलें।

भौतिकता के वायुमंडल में भी, आत्मा की ज्योति को जलावें:

आपने खेती का रूपक देखा होगा। किसान खेत को जोतता है पहले जमीन को एक सरीखा बनाता है फिर एक सरीखा खाद डलता है और बोए हुए बीजों को एक सरीखा पानी पिलाता है। अब सोचिये कि वह बीज अलग-अलग तरह के डलता है। गन्ना भी बोता है और उसी खेत के एक हिस्से में अफिम भी बोता है। उसी खेत में और कुछ अनाज भी बोता है। मिट्टी, खाद और पानी का संयोग एक सरीखा रखता है लेकिन एक ही खेत में क्या वे बीज एक सरीखे फल देते हैं? यदि गन्ना यह सोचे कि इस किसान ने बड़ी भूल की जो मेरे ही पास में कच्ची अफिम बो दी, अब मैं अपने भीतर की रस क्यों भरूँ तो, क्या ऐसा होता है? जिनको खेती का अनुभव है वे जानते हैं कि गन्ना और अफिम के पौधे पास-पास में हैं लेकिन वे अपनी-अपनी शक्ति से अपना-अपना रस भरते हैं अफिम का पौधा अपने अन्दर कच्चा रस भरता है तो गन्ने का पौधा अपने अन्दर मीठे रस का संवय करता है वे एक दूसरे के बाधक नहीं होते हैं।

यह प्रकृति का उदाहरण है। इसे देखकर प्रत्येक व्यक्तिको

हैली। वह अपने चैन्य के प्रकाश को समझती थी। उसने देखा कि उसका पति, उसका श्वसुर और उसका सास परिवार पाप ही पाप में रचा-पचा है। वे अपने जीवन दीपकों को धन-मोह के पीछे नष्ट कर रहे हैं। अनन्त मोह में न इनको इहलोक का ख्याल है और न परलोक का भान। उसने सोचा कि इनकी आत्माओं की लौ को मैं अपनी लौ से जलाऊंगी। उसने साहस बंधा और अपना काम शुरू कर दिया।

फुलवधू ने बड़े विनय के साथ श्वसुर जी से निवेदन किया— सबको पेट भरने के लिये अन्न तथा तन ढक्कने को वस्त्र ही तो चाहिये जो नैतिक प्रयासों से ही मिल जायेंगे फिर आप सब इतनी कुत्सित अनीति में क्यों पड़े हुए हैं? अनीति से कमाया हुआ धन कभी टिकता नहीं है। फुलवधू ने देखा कि उन्हें उसकी बात सुनी, लेकिन कोई खास असर नहीं पड़ा। लेकिन अपनी बात वह बराबर कहती रही। সেठने सोचा कि इस फुलवधू को शिक्षा देनी पड़ेगी। कुछ ऐसा नैतिक धन्धा शुरू करूँ और उससे कमाया हुआ पैसा भी जब चला जायेगा तो इसको कह सकूँगा कि देख, नीति से कमाया हुआ पैसा भी नहीं टिका। उन्हें ने यह बात फुलवधू से कही तो उसने असाह के साथ कहा कि नीति का पैसा कहीं नहीं जायेगा। आप प्रयोग कर देखिये।

सेठने तब नैतिकता से कमाये हुए धन से एक सोने का पाट खरीदा; उस पर अपना नाम अंकित कर दिया तथा उसको एक पुराने चमड़े में सी कर चौराहे पर रखवा दिया। निकलते हुए लोग उसको देखते और कहते कि ऐसा पुराना चमड़ा किसने रास्ते पर डाला दिया है ? लोग उसको ठेकर लगा कर एक तरफ कर देते। महतरानी कचरा निकालने आई तो उस पुराने चमड़े को उसने उखड़े पर फेंक दिया। किसान ने उस उखड़े के खाद को अपने खेत में डाल दिया फिर नदी का पूर आया सो खाद के साथ वह सोने का पाट भी बह गया। नदी की एक बड़ी मछली उसको निगल गई। एक मछुड़ ने अपने जाल में उसको पकड़ा और बाद में उसको चीरा तो सोने का पाट बाहर निकल आया।

मछुए ने पाट पर सेठ का नाम पढ़ तो उसने ईमानदारी से उसके लौटने का निश्चय कर लिया। वह सेठ के पास पहुँचा और सेठ को उसे लौट दिया। तब फ़ावधू ने कहा—अब आपका क्या कहना है? तब सारे परिवार ने अनीति छोड़ दी। एक चमचमाती लौ ने कई आत्माओं की बुझी हुई लौ को फिर से जला दी।

प्रकाश से भर उठे अपनी लौ, कुछ ऐसा पुरुषार्थ कीजिये:

अपनी आत्मा की टिमटिमाती लौ भी प्रकाश से भर उठे—कुछ ऐसा पवित्र पुरुषार्थ कीजिये। यह मानव जीवन फिर मिले—ऐसा कोई निश्चय नहीं है। इसी जीवन में नैतिकता पर विश्वास बनाइये। वीतराग वाणी का अनुसरण कीजिये और साधना के क्षेत्र में अवेले ही आगे बढ़ जाइये। अनन्त मोह से छुटकारा पाकर आप पथ-दर्शन प्रकाश सतम्भ भी बन सकेंगे।

बंगलूर, 13-9-77

दि. 13-9-77

विषय मिलें। वैदिक लब्धि के द्वारा दुनिया को चमत्कार दिखाने की कामना भी नहीं रखी जानी चाहिये।

शास्त्रकारोंने यहाँ तक संकेत दिया है कि तप के पीछे किसी भी प्रकार की लालसा मत रखो। तो फिर किसलिये तप किया जाये? तप का एक मात्र उद्देश्य कहा गया है कि निर्जरा हो-कर्मों का दूर हटना हो और उससे आत्मा की शुद्धि हो। निर्जरा की दृष्टि से जब तप किया जाता है तो उस समय निर्जरा मुख्य उद्देश्य होने से तप के भेद नहीं कह कर निर्जरा के भेद कह दिये गये हैं। उसको तप भी कह सकते हैं। मुख्य उद्देश्य आत्मशुद्धि है।

निर्जरा के दो भेद कहे गये हैं—अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा। अकाम और सकाम निर्जरा में अन्तर पड़ा है। अकाम निर्जरा वह होती है जहाँ स्वाभाविक रूप से कर्मों का उदय आता है, उसका अनुभव होता है तथा कर्मों के छूट जाते हैं। इसमें निर्जरा का उद्देश्य नहीं रहता—निर्जरा की कामना नहीं रहती, इसलिये वह अकाम निर्जरा है। ऐसी अकाम निर्जरा की स्थिति का प्रसंग प्रत्येक प्राणी से बनता है चाहे कोई तप कर रहा हो या भोजन कर रहा हो तो भी अकाम निर्जरा होती है। लेकिन इस निर्जरा से किसी तरह आत्म-शुद्धि नहीं होती है। यह स्वाभाविक है। इस प्रकार की निर्जरा प्रत्येक प्राणी की होती है या न कि वनस्पति के जीवों तक की भी होती है।

अकाम निर्जरा स्वाभाविक क्रिया, आत्म-शुद्धि सकाम निर्जरा से आप पूँगे कि अकाम निर्जरा का कोई प्रभाव आत्म-शुद्धि की दृष्टि से नहीं कहा गया—वह किस रूप में? वह इस रूप में है कि प्रत्येक कर्म की अपनी अवधि होती है। अवधि पूरी होने पर कर्म क्षय होते हैं। लेकिन क्षय होने समय कर्म अधिक भी बन्ध जाते हैं। अकाम निर्जरा से कर्म जाते कम हैं लेकिन नये बन्ध तो अधिक हैं क्योंकि आत्म-शुद्धि का लक्ष्य नहीं होता है। आत्म-शुद्धि की भावना नहीं है तथा आत्म-शुद्धि की दृष्टि से भी तप नहीं किया जा रहा है तो वैसी अकाम निर्जरा को भगवान् ने अपनी आज्ञा के अन्दर सयुक्त नहीं किया है। भगवान् ने अपनी आज्ञा में सकाम निर्जरा का ही उल्लेख किया है।

अर्थात् धर्मको प्रज्ञा से समझें। आन्तरिकता को लिये हुए बुद्धि के साथ जब धर्मको समझेंगे तभी उसका मर्म हृदयंगम हो सकेगा। बुद्धिशाली मनुष्य विक्त परिस्थितियों में भी अपने मार्गका निर्धारण कर लेता है। युक्तिसंगत रूप से सोचनेकी क्षमता प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी होती है।

चांपानेर में पहले एक कूट्र बादशाह था। उसके पास में लघुक नामका विद्वान् दीवान था। उसके बुद्धिबल पर सारा राज्य सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था। कुछ काजियों को उस दीवान से बड़ी ईर्ष्या थी। वे सोचते कि यह काफिर हिन्दू क्यों बादशाह के नजदीक बैठकर राज्य कर रहा है? उनको बुद्धि के करिश्मोंका ख्याल नहीं था। वे बार-बार बादशाह को कहते कि हमारे हेतु हुए एक हिन्दू को क्यों मुंह लगा रखा है? बादशाह तो बुद्धि का पारखी था। उसने विचार किया कि इन काजियोंको बुद्धि के प्रयोग से ही सही बात समझानी पड़ेगी।

बादशाह ने काजियोंको कहा—अच्छ, मैं लघुकको हट दूंगा और तुमको उसके पद पर बिठा दूंगा। जय यह तो बताओ कि दुनिया में सब वस्तुओंका बीज क्या है? सब रसोंमें श्रेष्ठ रस कौनसा है? वृक्षज्ञ कौन और वृक्षघ्न कौन है? इन चार प्रश्नोंके उत्तर दो। ये उत्तर भी अगर नहीं दे सके तो इतने बड़े राज्य को कैसे चलाओगे? काजी घबरा गये—एक भी प्रश्नका उत्तर नहीं बना। तब दीवान लघुकको बुलाया गया और उसके सामने भी ये चारों प्रश्न रखे गये।

लघुकने क्रमशः उत्तर दिये—दुनिया में सब वस्तुओंका बीज पानी है। पानी नहीं हो तो कुछ भी पैदा नहीं होगा।

इसी तरह सब रसोंमें श्रेष्ठ रस नमक होता है जिसके बिना स्वाद ही नहीं बनता।

यह प्रश्न कि वृक्षज्ञ कौन है—सही कहें तो वृक्षा होता है। मनुष्य में वृक्षज्ञता कहां होती है?

और वृक्षघ्न होता है जंवाई जिसको कितना ही दिया जाये वह अपने आपको कभी वृक्षज्ञ नहीं मानता।

जीवन में शरीर से सम्बन्धित इन चार बातों की विद्यमानता मिलती है-
आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। उसके बाद पशु और मनुष्य के जीवन
में जो विशेषता अन्तर डालती है, वह विशेषता होती है धर्म की
विशेषता। कहा है-

**आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यतोत्पशुभिर्निराणाम्
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मो गृहीनाः पशुभिः समाना॥**

मनुष्य और पशु में जो सामान्य बातें हैं उनमें से पहली बात है
आहार। बच्चा जैसे तो गर्भ में भी आहार पर ही निर्भर करता है लेकिन
जन्म के बाद तो रेकर अथवा अन्य प्रकार से आहार मांगता भी है यह
भोजन का प्रसंग बिना किसी के वहे अपने आप मन में उठता है यह
शरीर की मूल आवश्यकता माना गया है जैसे ही बाहर भोजन की
सामग्री देखते हैं कि उसकी मन में प्रतिक्रिया होती है तथा देखने वाले
की इच्छा हो जाती है कि वह भोजन कर लें। भोजन करने के लिये
अपदेश के की जरूरत नहीं होती है- कोई वायुमंजल निर्माण करने की अपेक्षा
नहीं रहती है। भोजन जन्म से चलता है जो अन्त तक नहीं छूटता है।

वैसी ही निद्रा की भी बात है। शरीर के लिये सामान्य रूप से
निद्रा की स्थिति भी आवश्यक होती है। शरीर को निद्रा से विश्रान्ति
मिलती है तो वह स्वस्थ रहता है। भय की वृत्ति भी अनादिकाल से बँधी
हुई है और मैथुन की वृत्ति भी। ये कोई सिखलाने की बातें नहीं हैं। इन
चारों बातों के पीछे मनुष्य के मन में नाना प्रकार के वेग और संवेग
बनते तथा बिगड़ते रहते हैं। इस रूप में मनुष्य और पशु का जीवन
समान माना गया है।

शरीर की इन प्रक्रियाओं के साथ मनुष्य के लिये यदि धर्म का
प्रवाह चेना के विक्रम का जागरण प्रवाह प्रवाहित नहीं होता है तो
मनुष्य का जीवन पशु-जीवन से अधिक समुन्नत नहीं माना जायेगा। धर्म
ही मनुष्य को उन्नति की तरफ जोड़ता है और इस धर्म के प्रभाव से
ही मनुष्य जीवन की विशेषता प्रकाशित होती है। धर्म का जागरण करते
हुए मनुष्य अपने जीवन का श्रेष्ठतम निर्माण करने में समर्थ बनता है।

महत्त्व को समझने की चेष्टा करता है वह जानकारी लेता है किये सन्त समस्त सांसारिक विकारों से दूर हटने के लिये कठिन साधना कर रहे हैं ये महात्मा हैं और त्यागी हैं। महात्मा धारण करके ये चल रहे हैं और जीवन को तपस्या से तपा रहे हैं वह उन सन्तों के प्रभाव को ग्रहण करने का इच्छुक बनता है और यदि उसे सत्संग का नियमित अवसर मिलता है तो धीरे-धीरे पवित्रता के भाव उसके मन में स्थायी प्रविष्टि प्रकट कर देते हैं इन्हें जीवन में जब निरन्तर पोषण मिलता रहता है तो यों कहिये कि उस जीवन का स्वस्थ निर्माण हो जाता है।

इन श्रेष्ठ संस्कारों को घरेलू कार्यों के जरिये पोषण मिले इसकी सम्भावना कम रहती है घर और परिवार में इन श्रेष्ठ संस्कारों का उपयोग है और प्रभाव भी पड़ता है लेकिन पूर्ण विकास नहीं हो तब तक इनके पोषण में सत्संग ही सहायक बन सकता है घर में वहां जैसा वातावरण होता है वैसे ही भाव पैदा होते हैं जो श्रेष्ठ संस्कारों को फुल नहीं बनाते हैं घर और परिवार में तो उदरपूर्ति के कार्यों से ही विराम नहीं मिलता है इसलिये धर्मस्थान जहां सन्तों का विराजना होता है संस्कार पोषण के लिये सुन्दर स्थान होता है। प्राचीन काल के सुद्धा श्रावक इस विषय को भली प्रकार से समझते थे और वे अपने जीवन निर्माण के लिये विशेष प्रयत्न करते थे वे धर्मस्थान पर भी जाते थे तथा अपने घर में भी अलग से धर्मस्थान नियत रखते थे वे स्वयं के जीवन को पवित्रता के संस्कारों से ओतप्रोत बनाते थे तो परिवार के सदस्यों को भी अपने साथ चलाते थे। इस प्रकार वे धर्म का श्रेष्ठ संस्कारों का एक वायुमंडल बनाते थे। इसमें सत्संग का भी विशिष्ट योगदान रहता था।

प्राचीन श्रावकों की जीवनचर्या संस्कारों का वायुमंडल:

आपने कभी प्राचीन श्रावकों का कृतान्त सुना होगा तो ज्ञात किया होगा कि उन श्रावकों के घर में अलग से पौषधशाला हुआ करती थी। इसी धर्मस्थान पर वे श्रावक और उनके परिवार के सदस्य धार्मिक

कार्यक्रम जीवन निर्माण के आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करता है उसके बाद व्याख्यान, मध्याह्न व रात्रि में धर्म-चर्चा के प्रसंग से संस्कार सम्पन्न वायुमंडल बनता है, जिससे आत्मोत्थान की प्रेरणा प्रबल होती है। प्रत्येक व्यक्ति को और खास तौर से कोमल वृत्ति वाले बालकों को सस्वस्कार ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहना चाहिये। जीवन निर्माण के लिये पक्ति संस्कार तथा पक्ति संस्कारों के लिये धर्म जागरण आवश्यक है।

विनयशीलता की वृत्ति में सद्गुणों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति:

आज के श्रावकों में भी शंख जी और पोखली जी की धर्म जागरण की भावना उत्पन्न हो रही है। जितनी उन्नत धर्म ज्ञेय तथा अनुशासन का प्रसंग था, जैसा उन्हें ने पक्ति वायुमंडल बना रखा था, उन दिशाओं में खनात्मक काम करने की आज सर्वाधिक आवश्यकता है। एक सम्यक् दृष्टि को इस भावना के साथ चलना चाहिये कि जितनी जीवन में विनयशीलता की वृत्ति का विकास होता है उतनी ही सद्गुणों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति परिपुष्ट बनती है।

विनयशीलता के अभाव में जीवन में नाना प्रकार की विकृतियां उभर कर उभर आ जाती हैं। अविनय की दशा में एक दूसरे की त्रुटियां देखी जाती हैं तथा दोष-दर्शन होता है। दोषदर्शी व्यक्ति श्रेष्ठ जीवन में भी त्रुटियां खोजने तथा उसे अप्रतिष्ठित बना देने के लिये षड्यन्त्र रचता है। इस तरह वह अपना अहित तो करता ही है। विनय को धर्म का मूल इसी कारण बतलाया गया है कि एक विनयी व्यक्ति अपनी त्रुटि को शान्ति से जानना चाहता है तथा उसके सुधार लेता है। ऐसी परिमार्जन प्रणाली से आत्म-शुद्धि त्वरित गति से सम्पन्न होती है।

प्राचीन श्रावकों का सम्पूर्ण जीवन विनयशीलता से ओत-प्रोत रहता था। बच्चों के अपने परस्पर व्यवहार में भी पूर्ण विनयता लक्ष्य रचते थे। यदि उन श्रावकों के धर्म जागरण को आज आप भी अपना लें तो धार्मिक क्षेत्र में एक पक्ति तथा नये वायुमंडल का निर्माण किया जा सकता है।

बंशहर-भीनसर

दि- 15-9-77

है कि वह उनके प्रति ही व्यामोहित हो चली है तथा उनके लिये ही अपने पेट को विभिन्न कषायों से रूंग कर अपनी पक्तिता से दूर हटती जाती है। यह मन पूर्व के परिवार को भूल गया है और पहले के सारे सम्बन्धों को भी वह विस्मृत कर गया है। वह तो भूला सोठीक, लेकिन यह मन अपने ही मूल आत्म-तत्व को भी भुला बैठा है। उसका क्या स्वरूप है-वह वैसा हेना चाहिये तथा उसको किस रूप में समुज्वल बनाया जाये-इन सब प्रश्नों से वह दूर भागता है क्योंकि वह कषायों की प्रगाढ़ता में उलझा हुआ है।

इस आत्मा का संसार परिभ्रमण क्या वांछनीय है?

आज का मनुष्य वर्तमान में अमुक स्थान पर क्या हेरूँ है और क्या नहीं- इसकी जानकारी अखबारों से कर लेता है, कानून की पुस्तकों का अध्ययन कर लेता है अथवा व्यापार के नक्शे जमा लेता है और प्रतिदिन की घटनाओं से परिचित रहता है, लेकिन क्या वह इस बातों को भी जानने की उत्सुकता रखता है कि वह पूर्व जन्म में कौन था, तब क्या घटनाएँ घटीं और उस समय उसके मन में क्या संकल्प-विकल्प थे? आप अभी तो यहां हैं लेकिन पहले कहाँ थे? क्या आपकी आत्मा यहां नई आई है? ऐसा नहीं है। आत्मा तो वही है लेकिन प्रत्येक जन्म में वह नया शरीर धारण करती है-पहले की पोशाक फटती है तो वह आत्मा शरीर रूपी नई पोशाक पहनती है। लेकिन यही आत्मा नई पोशाक में आ जाने के बाद पूर्व के परिवार, मकान आदि को याद करना भूल जाती है। जन्म-जन्मांतरों तक एक शरीर से दूसरे शरीर में घूमते रहना -यही इस आत्मा का संसार परिभ्रमण कहलाता है।

इस एक ही जिन्दगी के अन्दर भी शारीरिक स्थिति में भिन्नता पैदा होती रहती है। क्या आप बचपन में भी इसी रूप में थे जिस रूप में अभी हैं? बचपन के बाद तो जवानी आई और अब बूढ़े हो गये हैं। अधिक वृद्ध हो जाने के बाद क्या स्थिति बन जायेगी-यह आप जानते हैं। आपको याद होगा कि जवानी में कितना जोश था। सब तरफ अपनी बोली से तहलका मचा देते हैं, मगर अब बोल भी नहीं

पाते-जरा सेबोलें तो यह जुबान लड़क्क जाती है यह कैसी अवस्था हो रही है? इसी जीवन में आपने तीन अवस्थाएं देख डली- संसार परिभ्रमण का छेद स्वयं ही हो गया है लेकिन इस कृद्रावस्था में भी बचपन की-जवानी की बातें आपको याद आती हैं अथवा नहीं? छेटी अवस्था में भी कोई विशेष घटना घटी हो तो उसकी कृद्रावस्था में भी याद रहती है।

आप जरा सोचिये कि इस शरीर के जरा-जीर्ण हो जाने तथा एक प्रकार से नाश हो जाने के उपरान्त भी आत्मा नहीं बदली, स्मृति नहीं बदली और अनुभूति नहीं बदली। यदि आत्मा बदलती और आत्मा का अनुभव बदलता तो शरीर के बदल जाने के साथ-साथ बचपन और जवानी की बातें भी याद नहीं रहती। परन्तु बचपन की घटनाएं भी यदि आज स्मृति में हैं तो इससे सिद्ध होता है कि आत्मा वही है। आत्मा भूतकाल में थी, वही वर्तमान में है तथा भविष्य में सदा काल के लिये रहेगी- मात्र उसके स्वस्व में- उसकी पर्यायों में अन्तर आता रहता है पर्यायों की दशा भी उसके लिये अस्थायी दशा रहनी चाहिये।

आत्मा का मूल स्वस्व वैसा ही होता है जैसा कि सिद्धात्मा का होता है और आत्मा तब ही सिद्ध मानी जायेगी जब वह पूर्णतः अपने मूल स्वस्व में पहुंच जायेगी। उसका यह जो संसार परिभ्रमण है वह इसके अपस्व का कारण है जो कषाय मूलक है। संसारिक जीवन में वह आत्मा कषायों से लिपटी है तो कर्मों से संलग्न बनती है तथा कषाय से कर्म व कर्म से कषाय के चक्रबहू से बाहर निकल पाना उसके लिये एक कठिन अवस्था हो जाती है। इस अपस्व को मिटाना तथा स्वस्व को पाना ही आत्मा के लिये अभीष्ट माना गया है।

यह आत्मा अपने को भूलती है और कषाय वृत्तियों के दलदल में फंसती है।

यह आत्मा आज इस मानव शरीर में है और इस शरीर को छोड़ देने के बाद में भी किसी न किसी शरीर में रहेगी। भूतकाल में भी यह

किसी न किसी शरीर में थी। पूर्वजन्म में भी इसने परिवार बसाया था। यदि यह मनुष्य योनि में थी तो मनुष्य योनि का परिवार बसाया था और पशु योनि में थी तो पशु योनि का परिवार बसाया था। एक दृष्टि से इस आत्मा ने अनन्त जन्म लिये हैं इसी रूप में उसने अनन्त परिवार बसाये तथा अनन्त व्यक्तियों या जीवों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा। अनन्त लोगों का उपकार भी इस आत्मा ने लिया है। अभी तक वह उनके उपकारों से ऋण नहीं हुई है। लेकिन इस जन्म में आने के बाद वह सारे पूर्वभवों को तथा वहां की सारी घटनाओं को भूल गई है। किसी आत्माओं को ही ज्ञान होता है तो वे अपने पूर्वभव की घटनाओं को जान पाती है आजकल समाचार पत्रों में ऐसी किसी घटना का विवरण पढ़ने को मिलता है कि अमुकने अपने पूर्वजन्म की बातें बताई हैं और जांच करने पर वे सही पाई गई हैं।

इस आत्मा की सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने आपको भूल जाती है- सही रूप में अपने स्वरूप को समझ नहीं पाती है। इसी लिये वह संसार में परिभ्रमण कर रही है तथा शान्ति की चाह रखते हुए भी अशान्ति के झूले में गोते खा रही है। इसका मूल कारण यह है कि वह कषाय वृत्तियों के दलदल में आवंठ पंसी हुई है।

प्रत्येक मनुष्य की यह भावना रहती है कि उसे सुख और शान्ति मिले जब वह प्रार्थना सुनता है प्रार्थना करता है और शान्ति-सुधारस जलनिधि शब्द का उच्चारण होता है तो उसको शान्ति अत्यधिक प्रिय लगती है लेकिन वह अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता तो संसार की कषाय-क्लृषितता से अपने को दूर नहीं कर पाता है। कषाय नहीं छूटी तो शान्ति कहाँ से मिले? यह कषाय आत्मा का ऐसा शत्रु है जो उसे अपने निज स्वरूप से ही विस्मृत बनाये रखता है तथा वास्तविक स्थिति को जानने नहीं देता है। बड़े-बड़े व्यक्ति बड़े-बड़े कार्य कर लेंगे-बड़े नाम कमा लेंगे, विद्वान् हो जायेंगे, योद्धा बन जायेंगे लेकिन वे अपने निज स्वरूप को नहीं पहचान पायेंगे। कषाय की वृत्तियां जब आत्मा को घेरे रहती हैं तो आत्मा की ऐसी ही दुर्गति हो जाती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ हैं आप इनसे मुक्त ?

महावीर प्रभु ने कितनी बड़ी बात कही है, लेकिन उसके कितने सुनते हैं और कितने अपने जीवन में उतारते हैं—यह ज्ञानियों के ज्ञान में हैं। प्रभु ने कहा है—इन कषायों के बारे में जो मुख्यतः चार बताई गई हैं—क्रोध, मान, माया तथा लोभ की ये चारों प्रकार की कषाय वृत्तियाँ ही इस आत्मा के जन्म-मरण के चक्र में घुमा रही हैं कहा है—
**केहेयमाणोय अणिग्गहीया माया यलोभोय पक्कमाणा।
 काँरि एए कसिणा कसाया, सिंवाँती मूलाइँ पुणभवस्सा।**

दशवै-8/40

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की कषाय वृत्तियों के स्वस्व तथा उनकी प्रवृत्ति की जानकारी करना जरूरी है यह भी जानना जरूरी है किये वृत्तियाँ किन्-किन् स्वरूपों में आत्म-स्वस्व को क्लृप्त बनाती हैं तथा अपनी प्रगाढ़ता में इसके अपने विकास पथ तक किस प्रकार पहुंचने भी नहीं देती है?

आपको पूछें कि क्या आप क्रोध को समझते हैं तो आप कहेंगे कि इसके तो रोज ही समझते हैं मन में आप क्रोध को समझते हैं लेकिन ज्ञानी जन का अभिप्राय है कि मनुष्य क्रोध करता तो है मगर क्रोध को जानता नहीं है। आश्चर्य यही है कि वह क्रोध में डूबा रहता है लेकिन क्रोध की प्रवृत्ति तथा उसके दूरगामी प्रभावों से वह परिचित नहीं होता है। इयदतन डूबने वाला तो फिर से बाहर निकल जाता है और पानी की आपत्ति को जीवन में नहीं आने देता है। लेकिन जो बिना जाने ही डूबता है क्या वह वापिस निकलता है? जो पानी में खान करने के लिये डूबकी लगाता है वह वापिस निकल जाता है परन्तु जो अग्र से गिर जाता है वह मुश्किल से ही वापिस निकल पाता है उसी तरह जो क्रोध के समुद्र में डूब गया, वह डूब ही जाता है। उसके लिये उसमें से निकल पाना तथा शान्ति के अमृत का स्वादन करना—एक दुर्लभ अवस्था बन जाती है। शान्ति को वह चाहता है मगर शान्ति उसके मिलती नहीं है।

क्या कुछ गुजरा-उसका उसको तनिक भी ख्याल नहीं रहता है उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ ये आत्मा के लिये वलोरूपमर्मा के रूप हैं इनको जब आत्मा सूंघ लेती है तो उसके बाद तो वह संज्ञाहीन सी हो जाती है इसी लिये पूर्ण सावधानी की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। जो पहले ही सावधान हो जाता है वह इन कषाय वृत्तियों के जाग जाने पर भी प्रयत्नपूर्वक उन पर कबूपा सकता है। कोई आते हुए क्रोध आदि को रोक लेता है तो वह उसके दुष्परिणामों से भी बच जाता है। आत्मा उनमें अपने आपको नहीं भूलती तो धीरे-धीरे उनको भूल सकती है।

जो कषायों को जान लेता है, वह कषायों को छोड़ देता है:

एक चोर था जिसका नाम था रावतिया। वह एक निर्बन्ध गुरु के पास पहुंचा। उन्होंने उसको संसार का स्वरूप समझाया तथा जन्म-मरण को समाप्त करने का उपदेश दिया। रावतिया बड़ा कलाकर चोर था, राजा तक के यहां से वह चोरी कर लाया लेकिन कुछ भी पता नहीं चल सका। गुरु का उपदेश उसकी आत्मा में उतर गया। उसने विचार कर लिया कि अब वह क्रोध, आदि कषायों को छोड़ देगा। उसके मन में यह भी विचार आया कि वह चोरी में लाई हुई वस्तुएं भी वापिस लौट दे। तब वह सारी वस्तुएं लेकर राजा के पास गया और बोला-ये सारी वस्तुएं मैं यहां से चोरी करके ले गया था जिन्हें मैं वापिस समर्पित करता हूं मुझे मेरे गुरु ने ज्ञान दिया है कि कषायों के वशीभूत होकर मैंने चोरी करके दुष्कर्म किया था। राजा चोर के ऐसे हृदय परिवर्तन को देखकर गद्गद हो गया और रावतिया की प्रशंसा करने लगा।

वह राजा रावतिया से प्रभावित हो गया। उसने कहा-तुमने महात्मा की संगत से कषायों से दूर रहना सीख लिया है और ममत्व को छोड़ दिया है तो यह राज्य अब तुम समहालो, मैं अपनी आत्मा का कल्याण करूंगा। राजा ने कषायों को अग्रिम रूप से ही समझ कर उसके समुद्र में अपने आपको रावतिया के आदर्श के कारण डूबने से बचा

महात्म्य अपार है तथा इस जीवन की सार्थकता की कोई सीमाएं नहीं हैं

मानव जीवन को प्राप्त करना स्वयं संसार के इस परिभ्रमण में एक मील का पत्थर है—एक विशिष्ट उपलब्धि है। विकास यात्रा का असाहज प्रारम्भ इस मील के पत्थर से सहज विधि से हो सकता है। यह जीवन ऐसा विशिष्ट केन्द्र बिन्दु है, जहां खड़ी रह कर आत्मा को आगे के मार्ग के लिये विकेकपूर्ण निर्णय करना होता है। यों समझिये कि यह जीवन चौंरहे पर खड़ा है और अब दोनों प्रकार के मार्ग सामने हैं। ऐसा दिव्य मार्ग जिस पर चल कर आत्मा अपने परम स्वस्व को प्राप्त कर लेती है—वह मार्ग भी है तथा दूसरा विषय कषार्यों का मार्ग भी है जो आत्मा के स्वस्व को अधिक कालिमात्म्य बनाने वाला है। मानव जीवन विशिष्ट शक्तियों से भरा हुआ है—जिस मार्ग पर भी चलेगा, वह उस पर अपनी विशिष्ट शक्तियों को लगा देगा। प्रगति करेगा तब भी विशिष्ट प्रगति करेगा और विगति करेगा—पतन की तरफ गिरेगा तो भी गहरी गति से। इसलिये यह जीवन इतना महत्वपूर्ण है कि विकेक का दृष्टिकोण बन जाये तो आत्मा की विकास यात्रा को सफल बना देने में यह जीवन और यह तन प्रधान सत्बल बन जाते हैं और यही जीवन अविकेक की दलदल में फंस कर विषय कषार्यों के कारण अत्यन्त विषम भी बन सकता है।

इस कारण इस चौंरहे पर—इस मानव जीवन में आत्मा को निर्णय लेना है कि मुझे अपनी विकास यात्रा किस मार्ग पर प्रारम्भ करनी है? आत्मा यह सोचे कि जहां से वह आई है—जिस स्थिति से आगे बढ़े है क्या फिर से वहीं पहुंच जाना है अथवा नया रास्ता तय करके क्या वह आगे बढ़ने के लिये उत्सुक है? यह निर्णायक शक्ति जिस मानव के मस्तिष्क में उतरेणी, वह मानव इस मानव के चले में रहता हुआ भी देव पुरुष की अप्पमा को धारण करने वाला बन जायेगा और भव्य तरीके से नये रास्ते पर नये आयाम की ओर गति करेगा।

कि इसके सद्प्रयोग से भविष्य के पल्ले को ओर अधिक भारी बनाया जाये। वह भविष्य का पल्लु हल्का है या भारी हो रहा है- इसकी सूचना भी वर्तमान का कंठ ही देगा। वर्तमान के कंठ से ही निर्णय लिया जा सकता है कि वृत्तियों का सही निर्माण हुआ है या नहीं एवं महापुरुषों द्वारा प्रशस्त पथ पर गति हो रही है या नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान का कंठ तटस्थ रहे तथा स्थिति की सही सूचना दे। ऐसी अवस्था में इस कंठ को देख कर मनुष्य अपने जीवन चक्र का सम्यक संचालन कर सकता है।

आत्मा के अपने अनुभावों में क्रान्तिकारी परिवर्तन का काल:

इस वर्तमान काल को आत्मा के अब तक चले आ रहे अनुभावों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का काल मान कर चलिये। वर्तमान जीवन में अनेक प्रकार की वृत्तियों का समावेश है जिनको मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूल भाव या स्थायी भाव की संज्ञा दे सकते हैं। ये जितने भी मूल या स्थायी भाव इस जीवन में निर्मित हुए हैं वे वस्तुतः इस आत्मा के मूल भाव नहीं हैं। आत्मा ने इन भावों में रस अवश्य लिया है- आत्मा की शक्ति से ही इन भावों ने मूल जैसा रूप धारण कर लिया है किन्तु इस दृष्टि से आत्मा की यह स्वस्थ गति नहीं रही है। स्थायी भाव के रूप में मूल भाव की वृत्ति साथ-साथ चल रही है। इसलिये अधिकांश मानवों की प्रवृत्ति इन मूल भावों तथा स्थायी भावों की तरफ बह रही है। शरीर भले ही मनुष्य का है लेकिन व्यवहार और आचरण प्रायः उन भावों के अनुसृत पशुवत् है। पशुओं के व्यवहार में तथा मानवों के व्यवहार में स्थायी भाव की दृष्टि से विशेष अन्तर मालूम नहीं होता है। इसमें अन्तर उसी मानव के जीवन में दिखायी देता है जो अपनी निर्णय शक्ति को निर्लिप्त रखता है। इसलिये मानव जीवन का जो यह वर्तमान काल है वह पशुवत् स्थायी भावों से दूर हटने तथा आत्मा के अनुभावों में रमण करने की दृष्टि से क्रान्तिकारी परिवर्तन का काल है। अपनी सजग निर्णयक शक्ति से मनुष्य ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है।

वर्तमान काल में जिन भावों के साथ आत्मा बह रही है उन भावों को वह पहचान नहीं रही है। उसमें यह परीक्षा बुद्धि भी नहीं है किये भावों के निज स्वस्व के हैं अथवा पर-स्वस्व के हैं वह बेमान जैसी उन भावों में रमण कर रही है और यह कामना रखती है कि इन भावों से मुझे सुख और शान्ति मिले लेकिन ज्ञानी जन आत्म-विकास के विशिष्टयात्री इस मानव को सम्बोधन देने की दृष्टि से उद्घोषणा करते हैं कि मानव अपने इस अमूल्य जीवन के महत्व को समझने में सक्षम है और वह अपनी निर्णायक शक्ति को प्रखर बना कर सही मार्ग का निर्धारण कर सकता है वह अपनी इसी सक्षमता को जाग्रत बनावे यह वीतराग वाणी की प्रेरणा है।

वीतराग वाणी की प्रेरणा को हृदय में लेकर जो मनुष्य अपने अमूल्य जीवन के अमित महत्व को समझ लेता है और उसको सही मार्ग पर मोड़ लेता है, वह विषय और कषायों के कुग्रभाव से भी दूर हो जाता है। ऐसा सत्कर्तव्य इसी मानव जीवन में करने का है। विकृति एवं विषमता के जीवन को त्याग कर पक्रिता तथा समतामय जीवन की तरफ जो कदम बढ़ने हैं वही एकस्व से मूल्यों में परिवर्तन लाने वाली क्रान्ति है। इसी लिये वर्तमान काल को क्रान्तिकारी परिवर्तन का काल कहा गया है क्योंकि इस वर्तमान मानव जीवन में ही आत्मा संकल्प कर ले तो इस क्रान्ति को सम्पन्न कर सकती है।

विकृति एवं विषमता से पक्रिता तथा समतामय जीवन:

मानव मन में यह अवश्य है कि मुझे दुःख नहीं मिले तथा सुख ही सुख मिले। वह शान्ति की कामना करता है अशान्ति को नहीं चाहता। वह चाहता है कि कृद्रावस्था नहीं आवे, रोग नहीं हो तथा जीवन भर तरुणाई बनी रहे। वह यह भी चाहता है कि उसके पास किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहे। शरीर और पाँवों इन्द्रियों की क्षमता बनी रहे तथा सुख-सुविधा में किसी तरह की कमी नहीं आवे। इस प्रकार मानव के पास सोचने की शक्ति तो है लेकिन वह शक्ति एक ही

दुःख के कारण रूप इन कषाय भावों को छेंगे- विकृति तथा विषमता से मुख में ही समतामय जीवन का शुभारम्भ हो सकेगा। जीवन समतामय होगा तो पत्रिका भी बनेगी। इसलिये कषायों का परित्याग अनिवार्य है। ये कषायें इन मानव जीवन के वर्तमान को बिगाड़ी हैं तो भविष्य को अन्धकारमय बनाती हैं।

भविष्य की सुख-शान्ति, वर्तमान के तदर्थ निर्णय से

ये कषाय वृत्तियाँ आत्मा की तदर्थ निर्णायक भावना में बाधक बनती हैं। यह बाधकता ही जीवन के लिये घातक है। इन्सान चाहता तो अवश्य है कि वह वर्तमान काल में सब तरह से सुखी रहे किन्तु वर्तमान जीवन किन वृत्तियों में कैर रहा है- इसका लेखा-जोखा नहीं लेता है। धर्मक्षेत्र में भी पटु होता है तो वह अपने मन में सांसारिक सुखों के मनोस्थ ही पालता है। वह सोचता है- भूतकाल तो चला गया। भविष्य की तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होती है। जैसे कि भविष्य काल का कोई अस्तित्व ही न हो। उसके वर्तमान ही सब कुछ दिखाई देता है। वर्तमान को भी वह सुखपूर्ण सही विधि से बनावे तो ठीक है, लेकिन वर्तमान को भी उसने विषय और कषाय की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से लिप्त बना रखा है। सन्मार्ग पकड़कर वर्तमान को भी सार्थक करने का सही प्रयास किया जाये तो इस मानव-जीवन का सत्प्रयोग हो सकता है तथा भविष्य का भी निर्माण हो सकता है।

भविष्य की सुख-शान्ति वर्तमान में व्याप्त होकर भविष्य को सुखमय बनाती है और वर्तमान सुख-शान्तिपूर्ण बनता है वर्तमान की तदर्थ निर्णय शक्ति से। मनुष्य यदि वर्तमान को सुधार ले तो उसका भविष्य स्वतः ही सुधार जायेगा। किन्तु आज के मनुष्य का जैसा सोचना है वैसा करना नहीं है। सोचना भी अग्रणी तौर का है- बाहरी स्तर का ही सोचना है। उस विचार का भीतर में प्रवेश नहीं है। वस्तुतः यह मानव अपने वर्तमान को सुखी बनाना चाहता है जिस तन को उसने पाया है उसको तन्दुरुस्त भी रखना चाहता है। विज्ञान से जो नई-नई

कषाय वृत्तियों के शस्त्र आत्म-भावों की घात करते हैं

आधुनिकविज्ञान ने बड़े-बड़े घातक शस्त्रों का निर्माण किया है और प्रयोग व परीक्षण भी आगे चल रहे हैं। ये शस्त्र इतने घातक हैं कि विभिन्न प्रकारों से महाविनाश मचा सकते हैं। जैसे ही ये कषाय वृत्तियाँ अणुबम और रॉकेट हैं जो मूल शक्ति आत्म-तत्व पर आघात करते हैं। ये भीतरी बम भीतर को तहस-नहस करके बाहर आते हैं और तब बाहर के वायुमंडल को भी तहस-नहस कर देते हैं। कषाय वृत्तियों के घातक शस्त्र आत्मा के कोमल भावों की घात करने वाले होते हैं।

भीतरी व्रोध रबी ज्वाला को इन्सान समझता नहीं है और इसके अधीन यदि अपने वर्तमान जीवन को रखता है तो वह जीवन की वास्तविकता को भी नहीं समझ पाता है। इन्सान बाहरी तन्दुरुस्ती को ठीक रखने के लिये ताकत की दवाएं लेता है, लेकिन अन्दर की तन्दुरुस्ती का वह रहस्य ही नहीं समझता है कि उसकी कषायों से किस तरह सुरक्षा की जाये। अन्दर की तन्दुरुस्ती बनेगी तभी बाहरी तन्दुरुस्ती भी सुखदई बन सकेगी। ये कषायें आन्तरिक शत्रु हैं जो भीतर ही भीतर आत्मा को क्षत-विक्षत तथा जीर्ण-शीर्ण बनाती रहती है।

इन शत्रुओं को परास्त करना है तो आध्यात्मिक दृष्टि को अपनाइये। यह मानव जीवन जहां भौतिकता के प्रति आकर्षित है तो वह आध्यात्मिकता से भी शून्य नहीं है। दोनों एक हैं-छेर अलग-अलग हैं। भीतर से पहले देखें या बाहर से पहले देखें-देखना दोनों तरफ फेंकना। दोनों दृष्टियों का उल्लेख करते हुए आज की वैज्ञानिक दृष्टि को सामने ला रहा हूँ। वैज्ञानिक जिस प्रयोग से जीवन का अनुसन्धान कर रहे हैं, उन्होंने इस व्रोध के फते लिये हैं। उनको देखने से ज्ञात होता है कि व्यक्ति के अन्दर से व्रोध के समय कैसी लाल-लाल चिंगारियाँ निकलती हैं? जो व्यक्ति जितना अधिक व्रोध करता है, उसका उतना अधिक रकून सूखता है। व्रोध को नहीं छेड़ें तो कैसे सुख मिलेगा? आत्मा और शरीर दोनों के सुख को यह व्रोध तहस-नहस कर देता है। शस्त्र का घाव जो शरीर पर लगता है, वह घाव तो भर जाता है लेकिन भीतरी व्रोध रबी

क्या ये भीतरी शत्रु सब की आत्माओं को पीड़ित नहीं बना रहे हैं? उनके द्वारा दी जाने वाली पीड़ा की महसूसगिरि हेनी चाहिये तभी उनके विरुद्ध लड़ाई लड़ने का आत्म-बल जागृत हो सकेगा। आत्म-बल जागृत होकर संघर्ष होना तभी विजयश्री का सेह्य उसके माथे बंध सकेगा।

आत्म शत्रुओं के सन्दर्भ में वर्तमान के कटे को जांचिये और परखिये कि उसका सम्बन्धन किस तरफ बिगड़ रहा है? यह अनुसन्धान आवश्यक है। उस कटे से ही विदित होगा कि यह विशिष्ट यात्री किस दिशा में आगे बढ़ रहा है? वह भूतकाल में अर्जित कषाय वृत्तियों की दिशा में ही जा रहा है अथवा उनसे अलग हटकर समतामय जीवन की मंजिल की तरफ आगे बढ़ रहा है? प्रकाश की ओर प्रगति है या अन्धकार की तरफ विगति? आत्मा के भीतर का मोर्चा बराबर समझेंगे तभी जीत हासिल कर सकेंगे।

मैं क्या कहूँ? आप सुझा हैं। इस स्थिति से चिन्तन करें तथा चिन्तन स्वयं अपने आप में करें। आप अपने को देखें, आत्म-दर्शन करें तथा अपनी आन्तरिक दृष्टि से अपनी आत्मा को देखें। दूसरों की दृष्टि से देखेंगे तो आत्मदृष्ट नहीं हो सकेंगे और यस्ता तय नहीं कर पायेंगे। अपनी दृष्टि होती है कर्त्तव्य की दृष्टि-धर्म की दृष्टि। इस दृष्टि का निर्माण होता है कषायों से मुक्ति हो जाने के बाद। सबसे पहले निर्णायक शक्ति पैदा होनी चाहिये और एक कठिन संकल्प की उत्पत्ति कि जिसके बल पर इन भीतरी शत्रुओं से भीतर ही भीतर घोर लड़ाई की जा सके तथा उनको हरा कर आत्म-विजय की पताका पहराई जा सके।

जाग्रत आत्मा के हाथ में वर्तमान का कांट:

भगवान् महावीर ने क्या कहा है कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ की कषाय वृत्तियां तुम्हारे जीवन को भूतकाल में ले जाने की कोशिश करती हैं। ये प्रगति को रोकती हैं। याने भविष्य को अवरुद्ध रखना चाहती हैं। इस रूप में ये वर्तमान और भविष्य को बिगड़ती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि भूतकाल का भूत ही आत्मा के सिर

पर चढ़ रहता है और आत्मा को विकृति तथा विषमता के घेरे से बाहर नहीं निकलने देता है। ऐसी दशा में वर्तमान का कंठ भी बेहल बन जाता है। भविष्य का पलङ्ग खाली और भूतकाल का पलङ्ग कषायों से भरा रहता है तो सारी अवस्था असन्तुलन की बन जाती है फिर कंठ भी निरर्थक हो जाता है।

इसलिये वर्तमान का कंठ एक जागृत आत्मा के हाथ में होना चाहिये कारण जागृत आत्मा ही स्वस्थ संतुलन का विकर स्व सकती है। इस दृष्टि से इस मानव जीवन की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि आत्मा जागृत बने वह जागृति के बाद ही स्वस्थ-दर्शन कर सकेगी और अपने मार्ग कि निर्णय ले सकेगी। इस वर्तमान को सब कुछ अवश्य मानिये लेकिन उसका सदुपयोग करके इस मानव जीवन को पवित्र तथा समतामय बना लीजिये जिसके लिये कषाय मुक्ति सर्वथा अनिवार्य है। इस वर्तमान को यदि आपने संभार लिया तो आप निश्चिन्त हो सकते हैं कि इसके आधार पर भविष्य स्वतः ही संभार जायेगा।

बंशहीनार

दि. 18-9-77

में कितना ही आक्रमण करें, वे भीतर तक अपना असर पहुंचाने में कामयाब नहीं हो सकेंगे। नीतिकारों ने संस्करी व्यक्तियों की रीति का प्रतिपादन किया है और बाल-बोध की दृष्टि से कई रूपक दिये हैं। कथाओं के प्रसंग से यह बात बताई है कि अमुक राजा बड़ा पराक्रमी था—कभी उसकी पराजय नहीं हुई थी। उस पर शत्रुओं का वश नहीं चलता था। सभी शत्रु उस राजा से हार कर लौट जाते थे। एक शत्रु बलवान निकला—उसने सोचा कि राजा के किले में जब तक कोई अपना साथी नहीं होगा, तब तक राजा काबू में नहीं आयेगा। उसने अपने एक गुमचर को प्रशिक्षण देकर राजा के किले में भेज दिया जो राजा का अत्यन्त विश्वास-पात्र बन गया। वह राजा के साथ छया की तरह रहने लगा। जब राजा का उस पर बड़ा विश्वास जम गया तो उसने अपने राज्य के प्रबन्ध सम्बन्धी सारी बातें उसको बता दीं। वह वाला गुमचर सारी सूचनाएं अपने स्वामी को भेजता रहता। वह गुमचर भीतर था ही और बाहर से उसके स्वामी ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण सफल हुआ और शत्रु जीत गया।

इस रूप में अपने जीवन के राज्य पर कितना कीजिये यह शरीर इस जीवन के राज्य की राजधानी है और उसमें यह आत्मा राजा बन कर बैठी हुई है। बाहर के शत्रुओं ने इस राजा के पास में अपने गुमचर भेज रखे हैं। वे गुमचर आत्मा के ऐसे भक्त बने हुए हैं कि आत्मा ने समझ लिया है—ये मेरे अपने ही हैं और मैं इनकी हूं। ये हर समय मेरे साथ रहते हैं—इनसे अपना कोई भेद छिपाना नहीं है। इस आत्मा ने अपना सम्भ्राम स्वस्थ इन गुमचरों के अधीन कर दिया है और वह निश्चिन्त हो गई है। लेकिन वे शत्रुओं के गुमचर इस महाबली आत्मा को निश्चिन्त देखकर अन्दर ही अन्दर अपना तोड़-फोड़ का कार्य कर रहे हैं। वे इस बात का ध्यान रख रहे हैं कि यह आत्मा किसी प्रकार धर्म के स्वस्थ में न चली जाये, क्योंकि यदि वह धर्म की शरण में चली गई तो हमारे कार्य की ही समाप्ति नहीं होगी बल्कि हमारे अस्तित्व की ही समाप्ति हो जायेगी। वे गुमचर अपना कार्य करने में तत्पर हैं और कहीं वे आत्मा

को अपने अस्मर से दूर जाती हुई देखते हैं तो तुरन्त उस पर छ जाते हैं और धर्म की शरण में जाने नहीं देते हैं।

ये गुप्तचर स्वयं हैं सात भय, जिनके माध्यम से विषय, कषाय आदि आत्मा के शत्रु आत्मा को दबाते रहते हैं इन गुप्तचरों से जब तक निवृत्ति नहीं ली जायेगी तो आत्म-शत्रु आत्म-स्वस्व पर छरे रहेंगे और अपना घेरा बले रहेंगे।

आत्मा का सबसे बड़ा गुप्तचर काम का भय:

आत्मा का सबसे बड़ा गुप्तचर यह काम का भय होता है जो जैसे आत्मा के कण-कण में समाया हुआ है संसारियों के पीछे तो यह काम पड़ा ही है लेकिन वह अच्छे-अच्छे साधकों को भी आसानी से छेदता नहीं है स्थाने मि मुनि बनकर गुप्त में ध्यान कर रहे थे-साधना की उन्नी स्थिति में चल रहे थे उस समय वर्षा से भीगी हुई राजुल यह सोच कर गुप्त में घुस गई कि वहां एक अन्त होने से वह अपने गीले वस्त्रों को सुखा सकेगी और शीत से बच सकेगी। अन्धेरे में उसे कोई दिखाई नहीं दिया, लेकिन निर्वस्त्र राजुल को देख कर स्थाने मि मुनि काम के भय से ग्रस्त हो गये-काम के एक ही आव्रमण से उनकी सारी साधना ध्वस्त-सी हो गेलगी। ऐसा होता है काम का आव्रमण जो तृषि-मुनियों तक को काम विह्वल बना देता है।

कई साधकों के मन में कई बार ऐसा विचार आ जाता है कि उन्हें ने काम क्या, आत्मा के कई शत्रुओं को परास्त कर दिया है और तब उनके मन में एक प्रकार का अहंकार भी पैदा हो जाता है वे सोच लेते हैं कि उनके समान विजेता कोई अन्य नहीं है पुरानी बात है एक बड़ा बलवान योद्धा था जो कई युद्धों में लड़ा तथा जिसने हजारों शत्रुओं को जीता। उसके मन में यह गुमान आ गया है कि मेरे तुल्य विजयी कौन हो सकता है? इसी अभिमान के साथ एक बार वह जंगल में शिकार करने के लिये चला गया। वहां उसने अपने बल से एक जिन्द शेर को पिंजरे में बन्द कर लिया। उसे अपने बल का अहंकार और ज्यादा बढ़ गया। उसने अपने दीवान से कहा-देखा तुमने मेरा बल? मैंने जिन्द शेर को पकड़ लिया। दीवान ने नम्रता से कहा-मनुष्यों पर विजय

कम की विनाशिनी शक्ति को आत्मा का तीसरा नेत्र ही जला सकता है

कम की शक्ति आत्म-भावों के लिये अतीव विनाशिनी होती है और कम की मूर्ख आत्मा की चेतना को हर लेती है। कम ऐसा है कि जीवन में छ जाने के बाद उसके मन, वचन एवं कथा से दूर करना एक अत्यन्त दुःकर कार्य माना जाता है जैसे कम को शिव द्वारा जलाने की पौराणिक कथा है कि तीसरे विशिष्ट नेत्र को खोल कर यह कार्य किया गया। यह सही प्रतीत होता है कि कम का विनाश बिना विशिष्ट शक्तियों के प्रयोग के सम्भव नहीं होता है। आत्मा का तीसरा नेत्र याने कि विशिष्ट तेज ही कम को समूल समाप्त कर सकता है। कम की समाप्ति पर ही शिव अर्थात् कल्याण की सुरक्षा हो सकती है।

इस शरीर को और शरीर के माध्यम से आत्मा को प्रत्येक समय में कम का भय लगा रहता है यह कम महाभय मनुष्य को ही नहीं, पशु-पक्षियों तक को अपने आतंक से आतंकित बनाये रखता है। यह कम बाहर का भय मात्र नहीं है बल्कि गुप्त रूप की तरह आत्मा के अन्दर छिपा हुआ है जो आत्म-शक्ति को उभरने नहीं देता। वह कम कहां बैठा हुआ है? इस शरीर रूपी राजधानी में छिपा रहता है तथा वह आपसे दूर नहीं है।

इस कम ने क्या-क्या नहीं किया है? वह रावण कितना बलशाली था? उसका जीवन और राज्य किस कारण से समाप्त हो गया? कोई कहेगा कि राम या लक्ष्मण ने रावण को समाप्त कर दिया, लेकिन हकीकत यह है कि उसी के भीतर बैठे हुए कम ने उसके समाप्त किया। रावण कम के अधीन नहीं बनता-अपने निज स्वस्य को कम के प्रभाव में नहीं भूल बैठा तो क्या राम या लक्ष्मण उसके मार्ग में थे? रावण महाबली था लेकिन कम की शक्तियों के आगे वह पराजित हो गया। जो कम की शक्तियों के आगे पराजित हो जाता है वह अपने जीवन से भी पराजित हो जाता है।

अभक्ष्य भोजन एवं शाकाहार

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए.....

परमात्मा की स्तुति जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये पथप्रदर्शक बनती है। मानव का यह वर्तमान का जीवन अनेक अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है अनेक प्रकार की जटिलताएं भी इस जीवन में रही हुई हैं। ये जटिलताएं ऐसी हैं कि जिनमें कभी-कभी मानव बुझी तरह उलझ जाता है तथा अपने विकास के मार्ग को खोज नहीं पाता है। बहुतेरे प्रयत्न करने पर भी कुछ ऐसी अन्धकारपूर्ण वृत्तियां सामने आ जाती हैं कि मानव विचर्या विमूढ़ हो जाता है क्योंकि अपने कर्तव्याकर्तव्यों का निर्धारण करने के लिये उसको जीवन में प्रकाश की अपेक्षा होती है।

जीवन का वास्तविक प्रकाश प्राप्त करने के लिये बाह्य वातावरण के सहयोग की भी नितान्त आवश्यकता होती है। बाह्य वातावरण का अर्थ है कि मनुष्य का रहन-सहन कैसा है, मनुष्य की भोजन प्रणाली कैसी है तथा उसका बाहरी व्यवहार कैसा है? इनमें भी मनुष्य के समूचे जीवन पर उसके भोजन का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कह सकते हैं कि जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। अर्थात् भोजन का प्रभाव उसकी समूची विचार प्रणाली पर भी पड़ता है। एक ऐसा भोजन होता है जिससे मनुष्य की कोमल वृत्तियां उभरती और निखरती हैं तथा एक ऐसा भोजन होता है जो मनुष्य की क्रूर तथा कठोर वृत्तियों का परिचायक होता है। मनुष्य किस प्रकार का भोजन करता है और करना पसन्द करता है उसके आधार पर उसके जीवन के समूचे स्वस्थ का मूल्यांकन किया जा सकता है। चूंकि भोजन जीवन निर्वाह का मुख्य आधार होता है वह जीवन के प्रत्येक व्यवहार में प्रभावशील बनता है। इस दृष्टि से मनुष्य को अपने भोजन के सम्बन्ध में बहुत सतर्क रहना चाहिये। यह सतर्कता रह सकेगी उसके तत्सम्बन्धी ज्ञान के आधार पर और वैसे भी भोजन आवरण का एक अंग होता है तथा आवरण की पकितता के लिये पहले सत्य ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है।

ज्ञान किये बिना मनुष्य जितना कुछ भी प्रयत्न करता है अथवा पुरुषार्थ करता है, उसके परिणाम की कोई निश्चितता नहीं रहती है। वही उसका परिणाम सामान्यतया अच्छा निकल सकता है तो वही वह घातक रूप में भी प्रकट हो सकता है। ज्ञान के बिना वह एक अन्धे पन की अवस्था होती है। जीवन का विकास तो एक अति महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है किन्तु छोट-छोटे लौकिक कार्यों की सफलता के लिये भी उनका पूरा विज्ञान जरूरी माना जाता है। एक काम इसी ज्ञान से शुरू किया जाना चाहिये कि यह किस प्रकार सफल होगा तथा उससे वांछनीय परिणाम किस रूप में प्राप्त हो सकेगा? कार्य शुरू करने के पहले ही उस कार्य का सम्पूर्ण मूल्यांकन कर लिया जाना चाहिये ताकि उसके अपेक्षित परिणाम निश्चित रूप से प्राप्त हो सकें। जब छोट-छोटे कार्यों में भी प्रिया के पहले ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य हैं तो जीवन विकास के महान् कार्य में ज्ञान एवं प्रिया का कितना सुन्दर सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये—यह ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा है तथा जगत् के कल्याण हेतु वह मार्ग उन्हें ने सबको बताया है।

ज्ञान और प्रिया के सुन्दर सम्बन्ध के साथ चलने वाला मनुष्य अपने जीवन में वही भी लक्ष्य हीन नहीं हो सकता है तो गतिहीन भी नहीं हो सकता है। उसका जीवन तथा जीवन का छोट-छोटे कार्य भी अत्यन्त सुख्यवस्थित एवं सुचारू होता है।

भोजन सम्बन्धी विधि-विधान स्वस्थ बनने के सन्दर्भ में

जीवन व्यवहार का जितना कुछ प्रसंग है उसमें मुख्य प्रश्न भोजन का लिया जा सकता है। भोजन सम्बन्धी सही विधि-विधान यदि मनुष्य के ध्यान में नहीं है तो इस भोजन के माध्यम से वह अपने सारे जीवन को विवृति के पथ पर ध्वेल देता है। इस कारण भोजन सम्बन्धी विधि-विधान का पूर्ण ज्ञान मनुष्य को होना चाहिये और वह इस सन्दर्भ में होना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ कैसे बन सकता है तथा कैसे स्वस्थ बना हुआ रह सकता है? शरीर स्वस्थ रहता है या ने कि अपने में

की आरधना से आत्मा स्वस्थ होती है एवं परमात्म-स्वस्थ को धारण कर सकने में समर्थ बनती है।

शरीर को स्वस्थ रखना है तो अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करें:

मोक्ष की साधना एवं ज्ञान, दर्शन, चास्त्रि की आरधना एक स्वस्थ शरीर के माध्यम से ही सुचारू रूप से हो सकती है अतः शरीर के स्वास्थ्य के मूलाधार के रूप में भोजन के विधि-विधान पर गहरी विचार किया जाना चाहिये। इस शरीर को शरीर के योष्य तत्व खाने-पीने को दें तो इसकी अनुकूल सेवा ली जा सकती है। शरीर में योष्य तत्वों की कमी भी नहीं रहे तो इसको अयोष्य तत्व भी खान-पान में नहीं दिये जाने चाहिये। अयोष्य तत्व देने से शरीर में रोगों की उत्पत्ति होगी तो इसके व्यवहार में भी दोष पैदा हो जायेंगे।

इसलिये सबसे पहले भोजन के सम्बन्ध में अपने चिन्तन में कोई मोटी बात लाना चाहें तो अभक्ष्य पदार्थों के बारे में विचार कर लीजिये। शरीर को यदि आप स्वस्थ रखना चाहते हैं तो अभक्ष्य पदार्थों का कभी कतई सेवन न करें। वर्तमान वैज्ञानिक विज्ञान के युग में दूध, माँस, अण्डे, मछली आदि भोज्य पदार्थों के रूप में आज के जन-मानस के सामने बहुत बड़ा रूप लेकर खड़े हो गये हैं। ये सब अभक्ष्य पदार्थ हैं और मनुष्य के भोजन के लिये योष्य नहीं हैं। वनस्पति से सम्बन्धित जितनी वस्तुएं होती हैं अधिकांश रूप में वे मनुष्य के लिये भक्ष्य मानी गई हैं। मनुष्य के खाने में तथा पशु के खाने में कुछ तुलना है और कुछ तुलना नहीं है। वनस्पति प्रधान आहार को ही शाकहारी का नाम दिया गया है तथा मनुष्य को पूर्ण रूप से शाकहारी होना चाहिये। पशुओं में भी गाय, भैंस, बकरी आदि का भोजन पूरे तौर पर शाकहारी याने कि वनस्पति-प्रधान होता है। इनकी शरीर रचना को भी देखें तो इनके दांत चपटे होते हैं, तीखे नहीं तथा ये पशु पानी भी होठ से पीते हैं, जीभ से नहीं। दूसरे जो मांसाहारी पशु होते हैं सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि इनके दांत तीखे होते हैं और ये जीभ से पानी पीते हैं। मांसाहारी की स्थिति शाकहारी से भिन्न होती है।

अब विशेष प्रयास करके छुड़वें तथा मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल शाकाहार की प्रवृत्ति को बढ़ा दें और वहां भारतीय संस्कृति को अपना कर चलने का दावा करने वाले अभक्ष्य पदार्थों का प्रचार करके सामाजिक खान-पान की प्रणाली को अधिक अधिक बिगाड़ रहे हैं।

अभक्ष्य पदार्थों का प्रचार एक गलत नीति, एक गलत कदम:

चहे सस्वरी अथवा गैर-सस्वरी माध्यमों से प्रचार किया जाता ही लेकिन अभक्ष्य पदार्थों का प्रचार एक गलत नीति है और एक गलत कदम है क्योंकि यह मानव हित के विरुद्ध है यहां आप धार्मिक क्षेत्र में आते तो सबसे पहले जीवन की पृष्ठभूमि के स्वयं में खाद्य-अखाद्य का निर्णय लेने की कोशिश करें सोचें कि अंडे में जीव होता है या नहीं ? यह तथ्य है कि अंड अर्थात् गर्भ में से निकलता है अर्थात् नया प्रयोग यह बताया जाता है कि कृत्रिम विधि से गोली खिलाकर मुर्गी में गर्भाधान किया जाता है और वह जब अंड बाहर आता है तो कहा जाता है कि वह पोषण से भी बढ़ता नहीं है उसमें से बच्चा निकलकर नहीं आता है। इससे उसमें जीव नहीं होता यह तर्क सही नहीं है, क्योंकि नहीं बढ़ने मात्र से वह जीव रहित हैं- यह अप्रमाणिक कथन है इस कारण वह सजीव है और एक तरह से मांस स्वयं ही है।

आजकल वैज्ञानिक युग में ऐसी परिस्थितियां भी बना ली गई कहते हैं कि कृत्रिम गर्भाधान के जरिये बिना बैल के भी बछड़ा पैदा किया जा सकता है तो क्या वह बछड़ा भी जीव रहित होगा? फिर कृत्रिम अंडे को भी जीव रहित कैसे कह सकते हैं? गर्भ में एक तत्व स्वाभाविक प्रक्रिया से पहुंचता है अथवा कृत्रिम प्रयोग से उसी तत्व को भीतर पहुंचा दिया जाता है तो दोनों विधियों से गर्भाधान तो होता ही है और जहां गर्भाधान है, वह जीव की उत्पत्ति है। अतः अंडे को कनस्पति कहना तो कतई उचित नहीं है और इस स्वयं में अंडे खाने का प्रचार करना भी कतई उचित नहीं कहला सकता है।

मैं आपसे पूछूँ कि प्रचार करने वाले कितना ही प्रचार करें

लेकिन क्या सात्विक भोजन तथा शाकाहार में विश्वास करने वाले लोग इस दिशा में जागरूक हैं? क्या आप अपने स्कूल या कॉलेज में पढ़ने वाले बच्चों से रोज पूजाछ करते हैं कि उन्होंने वहां या गलत संगति से कहीं अन्यत्र अभक्ष्य पदार्थों को खाना तो शुरू नहीं कर दिया है? क्या आप सतर्क हैं इस बात में? क्या आपके घरों के बाल-बच्चे भी इस बात में गलत दिशा की तरफ तो नहीं बढ़ गये हैं? आपके समय कहां है-कमाने से ही फुरसत कहां है? घर में और घर के सदस्यों की भोजन पद्धति वैसी है-यह बहुत ही महत्व-पूर्ण बात है और इस तरफ आपका सजग ध्यान रहना चाहिये।

अजमेर के एक भाई मेरे पास आये और कहने लगे कि आज की सन्तान खान-पान के मामले में बहुत ज्यादा बिगड़ रही है सारा बाहर का वातावरण एक तरह से विकृति का वातावरण बन रहा है शिक्षा दी जाती है अभक्ष्य पदार्थों के प्रचार की-फिर ऐसी ही संगति मिल जाती है सो अच्छे-अच्छे सात्विक घरों के बच्चे भी सारे अभक्ष्य पदार्थों का चुपके-चुपके उपयोग करने लगे है। इनमें भी अण्डों के सेवन का तो बहुत ही चलन बढ़ गया है। मुझे सब सुनकर बड़ी हैरानी हुई मैं कहता हूं कि इस बिगड़ को रोकना है और जड़-मूल से मिटाना है तो बच्चों को घर में अच्छे खान-पान के संस्कार दीजिये-उनकी रोज हजरी ली जाये कि वे इस बारे में कहीं गलत रास्तों पर तो नहीं जा रहे हैं? शुद्ध शाकाहारी समाज के बच्चे ही मांसाहार की तरफ जावें-इससे अधिक लज्जा की और क्या बात हो सकती है? प्रचार की इस गलत नीति और आचरण के इस गलत कदम को तत्काल रोकने का प्रयास कीजिये।

भोजन के सम्बन्ध में अत्यधिक विवेक की आवश्यकता:

यह आश्चर्य की बात घट रही है कि जो लोग अब तक शाकाहारी चले आ रहे हैं वे लोग या उनकी सन्तानें अपने परम्परागत कर्तव्य को भूल कर मांसाहार की तरफ प्रवृत्त हो रहे हैं तथा जो अब तक कई पीढ़ियों से मांसाहारी रहे हैं वे अब इच्छापूर्वक अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर रहे

गंधारपालकेसागमेंरातकेसमयगिलारीफड़गईऔरफिरएकव्यक्ति नेवहसागखायातोउसकीक्यादशाबनगईयथासाध्यतोरात्रि भोजनकात्यागहीकरलेनाचाहिये।

भोजन की सात्विकता सेपक्त्रि जीवन की प्रेरणा:

वर्तमान जीवनकेबाहरीतौरतरीकोंकोभीयदिसुखवस्थित करनेकाज्ञाननहींहैतोसमग्रजीवनकोश्रेष्ठबनानेकीसमस्याका आपसमाधानकैसेकरेंगे? भगवान्केजीवनसूत्रपरध्यानदीजियेकि पहलेज्ञानकियाजायऔरफिरउसेआवरणमेंउताराजायताकि जीवनकाव्यवहारसुधारसकेकैसीभीशिक्षाहैकैसाभीसामाजिक वातावरणहैतबभीअभक्ष्यभोजनकीतरफकिसीभीहलतमेंगति नहींबननीचाहिये। यहशरीरऔरआत्माकेजोस्वास्थ्यकीसमस्या हैऔरधर्म-कर्मकीबातभीहै।

यदिआपजीवनमेंलौकिकउन्नतिभीकरलें-उन्नोपदपरभी पहुंचजावेंतोउससेखान-पानसुधरनाचाहिये, अहंकरवशउसमें बिगाड़कभीभीनहींआनाचाहिये। ध्यानरखियेकिभोजनकी सात्विकता सेपक्त्रि जीवनकीप्रेरणाउत्पन्नहोतीहै। जीनेकेलिये खानाचाहिये। जोखानेकेलियेजीताहै, वहीज्यादातरखानेको बिगाड़ताहै। सात्विकखावेंऔरजीवनकोपक्त्रिबनावें।

बंशहरमीनसर

दि. 20-9-77

साधना में समरसता कोमल बुद्धि के साथ:

इस जीवन को समग्र रूप से अभ्यास एवं सुन्दर बनाने के लिये वैसा ही अमलक्ष्य सामने रहना चाहिये यदि इस जीवन में अप्रसन्नता रहिये शान्त रस चाहिये तो उस रस का स्वकथ होता है समूह होता है शान्त रस का पिंड होता है उसको देखने और लेने की कोशिश करनी चाहिये इसी तथ्य को कवि ने प्रार्थना की पंक्तियों में दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है-

देखण देसखी मने देखण देवन्द प्रभु मुखकन्द

अप्रसन्न रसने वन्दसखी गत वलिमल दुखद्वन्द

सखी, मने देखण दे.....

कवि ने इस विधेय-तत्त्व के साथ विनशब्द का प्रयोग किया है सखी का अर्थ है सहेली, बहिन या मित्रा एक बहिन अलक्ष्य के लिये बाधक हो रही है वह दूसरी बहिन का मार्ग कर रही है दूसरी बहिन चाहती है कि यह बहिन उसके दर्शन-कार्य में बाधक न बने उसके अलक्ष्य को पाने में वह उसकी सहायता करे इसी लिये उस बाधक बहिन को उसने ललाकारा या दुकारा नहीं, बल्कि सखी के रूप में प्रेम भरे शब्दों से 'सखी, मने देखण दे' जैसे कि वह दर्शन में बाध नहीं दे रही और सहायता कर रही है इस तरह उसकी सहायता की ही प्रार्थना की गई है उसके साथ व्यवहार में बाध नहीं, शान्ति है ये दोनों सखियां-दोनों बहिनें वहीं बाहर की नहीं हैं भीतर के जीवन के ही सामग्र्य में रहने वाली सखियां हैं

ये दोनों सखियां कौन सी हैं? एक तो सुमति है तथा दूसरी कुमति दोनों कहां हैं? मनुष्य के इसी जीवन में हैं सुमति और कुमति दोनों शब्द स्त्रीवाक्य हैं इस लिये कवि ने सखी शब्द का प्रयोग किया है सुमति परमात्मा के अप्रसन्न रस को देखना चाहती है पाना चाहती है लेकिन कुमति उसमें बाधक बन रही है कुमति प्रवेश द्वार के बाहर हथपैना कर रही है कि मैं तुझे भीतर नहीं जाने दूंगी। सुमति का नाम सुमति है वह सुन्दर है सुशील है और इस लिये कुमति को नम्रा के साथ बहती है है सखी, मुझे वन्द प्रभु का दर्शन करने दे सखी का सखेदन ज्ञान कोमल है कि वह कुरेखू मन के भी धिपला देने की क्षमता

सुमति का रूप लेलेगी। आप से विये कि आपको क्या चाहिये? कुमति या सुमति? यदि सुमति चाहिये तो उसके लिये योग्य भूमि का की तैयारी कीजिये सुमति के निवास के लिये स्वच्छ और श्रेष्ठ भवन की आवश्यकता होती है जहां कभी भी किसी रूप में गन्दगी नहीं आवे जैसी वह उन्नी है वैसे ही उसके बैजने के लिये उन्ना स्थान भी होना चाहिये जैसे मेहमान को बुलाना है उसके अनुसूच सायी तैयारी की जानी चाहिये

सुमति का निवास किस भवन में होगा? क्या वह सेठों की बी-बी हवेलियों में रहेगी और गरीब की झोपड़ी में नहीं जायेगी? बाहर की हवेलियां उसके काम की नहीं हैं उसके लिये तो मन की हवेली चाहिये ऐसा मन हो जो साफ शुद्ध और सुन्दर हो तथा यदु-यदु भी मलिना में लिप्त नहीं होता हो ऐसे मन में सुमति जी पधारती हैं और मन की योग्यता बढ़ जाती है तो वहीं निवास कर लेती है फिर सुमति के बैजने के लिये उन्ना आसन भी चाहिये कि वह सुविधा पूर्वक उस पर बैठी रह सके वह उन्ना आसन कैसा होगा? वह आसन है सामयिक आसन, जहां समता भव की साधना होती है जितना समभाव पृष्ट बनता है उन्ना ही सुमति का आसन सुदृढ़ होता है

सन्त जब आपको सामयिक करने के लिये व हते हैं तो आप समझते हैं कि वे कोई अपना काम आपसे करवा रहे हैं लेकिन विवेक पूर्वक विचार करें कि यह उन्का नहीं, आपका अपना काम है जितने रूप में आप सामयिक वे मह्यम से समता या समभाव की आरचना करेंगे उन्ने रूप में आपका मन अधिक से अधिक सुमति धारी बन सकेगा। यदि सामयिक नहीं करेंगे और संसार की विषमताओं में ही सारे समय पंसे रहेंगे तो कुमति इस मन का पिंड नहीं छेड़ीगी। आप गह रुई से से विये कि आपको क्या कुमति से कभी शान्ति मिलती है? कुमति तो स्वयं अशान्ति का पिंड होती है जहां कुमति है वहां दुख ही दुख है और अशान्ति ही अशान्ति है जब मन में सुमति का प्रवेश और निवास होता है तो वहां सुख-सम्पत्ति तथा शान्ति का संघार हो जाता है वह है

जंहु कुमति तं विपति विधाना, जंहु सुमति तं सम्पत्ति नाना।

में बैठकर विवेकभी रखें और अभ्यासभी करें तो मन का निग्रह भी धीरे-धीरे
साधना है और इस रस में सामयिककी सही साधना बन सकती है

मन का निग्रह एवमन ही है, विन्दु निखर अभ्यास वियाजय
तो उसके मात्रो रहने की आदत को बदल सकते हैं स्वयं मन का निग्रह भी
एक साधना है और एकदृष्टि से सामयिक भी इस साधना का अंग बन सकती
है सामयिक में मन को कश में रखने का जो अभ्यास वियाजयता रहेगा तो
एक दिन मन पूर्ण रूप से आत्मधीन बन सकता है इस प्रकार सामयिक में
सातों नय घटि हें है सातों नय सभी वस्तुओं में घटि हें है

सुमति को जागृत बनाकर समता की साधना करनी है

सभी क्या चाहते हैं? समता को सभी चाहते हैं समता साधना से
सम्पत्ति है मन, कवन एवं क्या वे रोगों को आत्म नियन्त्रण में लेना होता है-
उनकी विगति को रोकते हैं तब हृदय में समभावों की सृष्टि होती है यह समता
की साधना सुमति को जागृत बना कर ही की जा सकती है सामयिक को भी
समता की साधना का प्रमुख साधन बन सकते हैं यह समता जब जीवन में
उपलब्ध होती है तो समस्त विचार एवं व्यवहार में समरसता, कोमलता तथा
नम्रता खजाती है

तब प्रभु के स्वस्व का दर्शन करने की ललक पैदा होगी और आप
भी वविवेकर में स्वर मिला कर बोलने लगेंगे-

देखण देरे सखी मने देखण दे, चन्द्रप्रभ मुख चन्द, सखी.....

चन्द्रप्रभ का मुख देखना है तो ध्यान रखें कि वह इन्द्रांस वे नहीं है
वे समता रस के चन्द है अपशम रस का तात्पर्य है कि जिनके मोह, मान,
माया, लोभ आदि विपरी भाव नष्ट हो गये हैं उनके उज्वल आत्मस्वस्व के
दर्शन की बात है वह दर्शन कैसे होगा? कुमति होगी और सुमति घने लगेगी
तब वहां है सुमति? वह अपने ही भीतर दबी हुई है उसे जगाना पड़ेगा और
सक्रिय बनाना होगा ताकि वह इस जीवन में उदित होकर समता की साधना में
सुदृढ़ सहयोग प्रदान करें

संसारोहेँ लेकेन सुमति के भूल जातेहेँ यह भी ध्यान नहीं रखतेके सुमति की दशा कैसी है? क्या कुमति उस पर अत्याचार तो नहीं कर रही है? इस प्रकार कुमति के प्रभाव को दूर करतेहुए सुमति के पूर्णः जागृत, कार्यक्षत तथा साक्षी बनइये

सुमति की सत्पथानी में समता के फलधिहेँ सधन की परिपक्वता भी प्राप्त हे जाती है सुमति, समता और सधन जब समन्वित बन जातीहेँ तो मोक्ष की मंजिल ज्यादा दूर नहीं रहती है

बंशरहीनर

दि. 21-8-77

पानी के लिये सिर्फ चिल्ला ही रहा हो तो क्या उसकी प्यास बुझ जायेगी? पानी गंगा में बह रहा है और वह गंगा के तट पर खड़ा है और जोर-जोर से पानी-पानी की टलगाता हुआ मूर्ख हो जाता है तो उस व्यक्ति को क्या कहेंगे? पानी के पास खड़ा रह कर भी जो विधिपूर्वक पानी पी कर अपनी प्यास की नहीं बुझा सका, उस व्यक्ति ने अपने जीवन का मूल्यासमझा ही कहां?

वास्तव में जीवन को जब तक विधि-सम्पन्न नहीं बनाया जाता है तब तक जीवन का मूल्यासमझ में नहीं आता है। अविधि में पड़ा हुआ जीवन कहीं-कहीं निश्चिन्ता ही चला जाता है और उस जीवन में भयंकर कष्ट भी देखने पड़ते हैं। यही नहीं, अविधि से जिया जाने वाला जीवन आगामी अनेक जीवनों के लिये कष्टों की शृंखला स्व देता है जो इस मानव जीवन के महान् मूल्यासमझता है वही इस जीवन के सुविधि सम्पन्न बनाने का निश्चय करता है। लेकिन यह जीवन सुविधि सम्पन्न कैसे बने? इस लिये आत्म-स्वरूप को समझने के साथ परमात्म-स्वरूप को समझने का निर्देश दिया गया है तथा यह प्रार्थना उसी का साधन है। प्रार्थना केशब्दों और उनके अर्थ की गूढ़ता में जब प्रवेश करते हैं तो परमात्म-स्वरूप की झलक दिखाई देने लगती है। तब विकासशील आत्मा अपने भीतर एक प्यास-एकलला कच्चा अणुभाव करती है कि वह भी उस परम पद को प्राप्त करे। तब जैसे एक प्यासे व्यक्ति को पानी की जरूरत होती है, वैसे ही उस आत्मा को परमात्म-स्वरूप की ललक लगती है। इसमें भी जैसे पानी पानी रखने से प्यास नहीं बुझती है-विधिपूर्वक पानी पीने से बुझती है, वैसे ही केवल नाम रखने से आत्मा का उद्धार नहीं हो जाता है। परमात्म-स्वरूप को आदर्श मान कर जब आत्मा अपनी साधना में प्रवृत्त होती है और सुविधिपूर्वक इस जीवन को चलाती है तब भी वह परम पद की तरफ गति करने लगती है।

इस लिये पहले परम स्वरूप को अपने जीवन के संदर्भ में समझने की आवश्यकता होती है ताकि उस परम पद की प्यास लगे। क्योंकि यह प्यास जितनी गहरी बनती जायेगी, विधि सम्पन्न जीवन स्वी पानी की मांग भी गहरी होती जायेगी। वैसे जीवन का अर्थ पानी भी होता है।

पानी भी विधि से पिएँ और जीवन भी विधि से जिएं तो सभी तरह की प्यास से अवश्य ही तृप्ति मिलेगी।

विधि को भी मात्र रखने से नहीं, विधि को अपनाने से काम होगा:

गंगा के तट पर खड़ा हुआ व्यक्ति विधि से पास ही में उपलब्ध पानी को पीता नहीं है पर दीन भाव से अन्य व्यक्तियों को सम्बोधित करता है कि मुझे पानी पिलाओ और पानी पिलाने की विधि भी बताता जाता है तब भी क्या उसकी प्यास बुझेगी? तब उसको कोई विवेकशील व्यक्ति कहता है-पानी-पानी की रट क्यों लगा रहा है? अगर तुझे सचमुच प्यास लगी है तो इतनी बड़ी गंगा बह रही है तू अपने पुरुषार्थ से आगे बढ़ और पानी पीकर अपनी प्यास बुझाले प्यासा व्यक्ति बोलने लगा-आप क्या कह रहे हैं पानी गंगा में बह रहा है-यह ठीक है लेकिन गंगा का पाट बहुत लम्बा चौड़ा है और मेरा मुँह तो छोट-सा है। इस गंगा के पाट को अपने मुँह में कैसे डलूँ?

जय ध्यान से सुनिये, यह बड़ी गहरी बात है पदलों के आसन से नहीं, जंवाई जी के चक्कर आसन से बैठकर सावधानीपूर्वक सुनिये। यह न सोचें कि जो कुछ मिलता है वह तो बाजार में मिलता है, यहां पर क्या मिलेगा? महाराज तो त्याग की बात कहेंगे और त्याग आपको लेना नहीं, फिर सुनने से क्या फायदा? ऐसी असावधानी अच्छी बात नहीं है महाराज त्याग जब खदती नहीं दिलाते हैं यदि आपको अपना जीवन सुखी बनाना है तो महाराज उसकी सुविधि बताते हैं-आपको अपना जीवन सुविधि सम्पन्न बनाने की चेतावनी देते हैं यह आपके लिये हितावह है ध्यानपूर्वक सुनने की चेष्टा करें।

विधि को नहीं अपना सकने वाले प्यासे व्यक्ति ने उत्तर क्या दिया कि मैं गंगा के सारे पाट को अपने छोट-से मुँह में कैसे डलूँ? यह उसकी अविधि की बात है क्या अपनी प्यास बुझाने के लिये पानी पिया जाता है या पानी के पात्र को भी निगला जाता है? कोई पात्र को चबाने लगे तो यही कहा जायेगा कि इसको पानी पीने की विधि भी नहीं आती है। गंगा का पाट तो लम्बा-चौड़ा बह रहा है-उसमें अपार

महावीर प्रभु के महान् उपदेश भव्य हृदयों को छूने वाले हैं इस पृष्ठभूमि के साथ महावीर प्रभु के महान् उपदेश भव्य हृदयों को छूने वाले हैं यही कारण है कि महावीर प्रभु एवं अन्य तीर्थकरों की वाणी जन-भाषा में मुखरित हुई जो उस समय प्राकृत थी। जन-भाषा में व्याकरण की जटिलता नहीं होती है किन्तु हृदय के गहरे भावों को सरलता-पूर्वक श्रोताओं के मन में उतार के वा जन-भाषा सदैव सशक्त माध्यम होती है। सर्वसाधारण जन-भाषा में बोलते हैं और वही इस हेतु व्याख्यान की भाषा होनी चाहिये। जनता उसी भाषा में व्याख्यान को सुनकर उसका अभिप्राय भली प्रकार समझ सकती है। इसी दृष्टि से जिस भाषा का उस समय की आम जनता प्रयोग करती थी, उसी भाषा का उपयोग महावीर प्रभु ने अपने उपदेशों के लिये किया। वे चाहते तो बहुत कठिन भाषा में जटिल-से-जटिल शब्दों के माध्यम से अपने उपदेश रख सकते थे। उनके अन्दर तो अनन्त शक्ति थी। वे वेचलज्ञानी थे। लेकिन उन्हें ऐसा नहीं किया। वे सर्वा, सर्वदर्शी-त्रिकाल दृष्ट जानते थे कि जिस भाषा को आम जनता समझ सके वही भाषा उपदेश के योग्य है और उसी भाषा का प्रयोग उन्हें किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके महान् उपदेश अनेकानेक भव्य जनों के आत्म-व्यापन के कारण भूत बन सके।

वाणी का उद्गम स्थान पक्ति होना चाहिये। यदि उद्गम स्थान पक्ति नहीं है और वाणी भले ही प्रंजल संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध हो- वह पक्तिता को जगाने वाली नहीं होती है। शास्त्रीय उपदेशों की तुलना में उसका इसी लिये कोई महत्व नहीं माना जाता है। भाषा तो एक आवरण है-शरीर है शरीर किन्ना ही सुन्दर हो मगर यदि आत्मा उसमें से निकल चुके हो तो उस शरीर का क्या महत्व रह जाता है? कदाचित् शरीर उतना सुन्दर नहीं भी हो लेकिन उसके भीतर तेजस्वी आत्मा हो तो वह जीवन अतीव प्राणवान होता है। वैसे ही उपदेशों में हृदय को छू कर बदल देने की शक्ति हो, वे ही उपदेश सार्थक होते हैं और ऐसे सार्थक उपदेश निर्विकारी हृदय से ही प्रसृष्टि होते हैं। वीतराग वाणी में जो जीवन का बोध मिलता है वह अनिर्वचनीय होता है। उसका

फल उसके नहीं मिलेगा। वह शुभ फल भी उसके अवश्य मिलेगा। पहले की शुभ क्रियाओं का फल उसके साथ होगा ही, लेकिन आयुष्य बन्ध के समय उसकी जो अशुभ क्रिया होगई उसका फल उसके कुत्रे की योनि मिलने के रूप में मिल गया। इस प्रकार जिस-जिस रूप में मनुष्य शुभ अथवा अशुभ क्रियाएं करता है उसका उस-उस रूप में शुभ अथवा अशुभ फल उसके मिलेगा ही। इसी प्रक्रिया के अनुसार यदि कोई सत्पुरुषार्थ पूर्ण क्रियाएं करता है तो उसके उसका सुफल भी अवश्य ही प्राप्त होगा। फल भोग क्रिया का अवश्यमेव परिणाम होता है और उससे कोई भी आत्मा बच नहीं सकती है।

क्रियाओं के सम्पूर्ण फल भोग के बिना मोक्ष नहीं होता है

उस मनुष्य ने आयुष्य-बन्ध के समय अशुभ क्रिया की तो उसके फल भोग में उसके कुत्रे की योनि मिल गई। इसी रूप में उसने लम्बे समय तक जो शुभ क्रियाएं की और उनसे जो पुण्य-बन्ध हुआ, उसका क्या फल मिलेगा? जिस पुण्य बल से उसके वैभव मिलने की स्थिति थी, सुख के साधन जुटने का संयोग था, अब कुत्रे की योनि में वह कैसे साधन कैसे जुट पायगा? ज्ञानीजनों का कहना है कि आयुष्य बन्ध होने से पहले जो उसने पुण्य की क्रियाएं की हैं, उनका सुफल भी उसके यथास्थिति अवश्य ही मिलेगा, क्योंकि भगवान् का यह वाक्य क्रिया या क्रिया, सा सा फलवती कभी भी निश्चय नहीं जायगा।

महावीर प्रभु ने यह भी फरमाया है और सारे वस्तु-विषय को स्पष्ट किया है कि-

वक्षणकच्छाणणमोक्खअत्थि। ज्ञाय-4/3

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष नहीं होता है। फल तो उसके मिलेगा लेकिन मिलेगा किस रूप में? मनुष्य की योनि को छोड़कर आत्मा जिस कुत्रे की योनि में पहुँची है, उसमें पूर्व में बन्धे पुण्य कर्मों का फल जब उदय में आयेगा तो उस कुत्रे की योनि में भी उसके सुख-साधनों का संयोग बैठ जायगा। वह कुत्रा भी अपने बचपन में किसी अच्छे घर में पहुँच कर ऐसा सुख साधन प्राप्त कर लेगा कि दो-दो नौकर उसकी सेवा में खड़े रहेंगे। कुत्रों की ऐसी सेवा मनुष्य कर रहे हैं-यह आपने देखा होगा। ऐसे अच्छी जाति के पालतू कुत्रों को देखने

क आपको प्रसंग पक्ष होगा कि जिनको रईस लोग अपनी गोद में उठा कर करों में घुमाते हैं और उनकी कई मनुष्यों से भी अच्छी सेवा चल होती है। उस पुण्य फल के रूप में ऐसा कुत्ता कर में बैठ फिरेगा, मालिक की गोद में चढ़ रहेगा, बड़िया खाना खाएगा और किसी भी सुख-साधन से वंचित नहीं रहेगा। कुत्ते तो गलियों में फिरने वाले दूसरे कुत्ते भी होते हैं मगर वह पालतू कुत्ता बनकर अपने पुण्य-कर्मा का फल-भोग प्राप्त करेगा।

गली के कुत्ते में और उस पालतू कुत्ते में यह फर्क क्यों आया? वह इसलिये आया कि उस पालतू कुत्ते ने पिछले जन्म में निरन्तर शुभ भाव रखे थे जिनका फल अच्छा मिलना था, लेकिन आयुष्य-बन्ध के समय अशुभ क्रिया में पंख जाने के कारण कुत्ते की योनि मिल गई आप ऐसे पालतू कुत्तों को देखें तो यह समझिये कि उन्हें ने अपने पिछले जन्म में आयुष्य-बन्ध के समय गफलत कर दी इसलिये सारी जिन्दगी बखाद हो गई यहां उनको सभी प्रकार का सुख अवश्य प्राप्त होगा, लेकिन आखिर योनि कुत्ते की ही रही। मनुष्य उस पुण्य-फल के रूप में जो कार्य कर सकता था, वह कार्य कुत्ता नहीं कर सकता है। यदि वह पिछले जन्म में सावधानी रख कर दूसरे व्यक्ति से अजेत नहीं होता तथा अशुभ क्रिया नहीं करता तो उसको ऐसी योनि नहीं मिलती। यदि शुभ भावों तथा क्रियाओं के साथ आयुष्य-बन्ध हुआ होता तो वह अवश्य देवलोक में देवों की वृद्धि-सिद्धि को प्राप्त करता। और कदाचित् फिर से मनुष्य योनि में पहुंचता तो अम शरीर तथा सारी सुख-सम्पत्ति उसके पास में होती।

आगामी जन्म का जब आयुष्य-बन्ध होता है तो उस समय में रही भावनाओं तथा क्रियाओं के अनुरूप ही उसके अगला जन्म मिलता है उसने उस समय में अजेतना दिलाने वाले का प्रतिकार करने के लिये क्रोध कर लिया तो उसको कुत्ते का जन्म मिल गया। कर्मा के बन्ध तथा फल भोग की ऐसी प्रक्रिया इस आत्मा के साथ अनादिकाल से लगी हुई है आत्मा जब इस प्रक्रिया को पहले अशुभता से शुभता में बदलती है और बाद में उसको भी पूर्ण रूप से समाप्त कर लेती है, तभी वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकती है।

शुभाशुभ कर्मों के फल भोग की प्रक्रिया कब समाप्त होगी? आत्मा के साथ अनादिकाल से लगी यह शुभाशुभ कर्मों के फल भोग की प्रक्रिया आखिर कब और किस प्रकार से समाप्त हो सकेगी? यह कर्म-बन्ध तथा फल भोग की प्रक्रिया कभी शुभ में जाती है तो कभी अशुभ में जाती है यह स्थायी रूप से सदा शुभ में भी नहीं रहती है तो स्थायी रूप से सदा अशुभ में भी नहीं रहती है। इसका भी धूप और छाया जैसा खेल है। जहां थोड़ी देर पहले छाया होती है, वहां थोड़ी देर बाद धूप आ जाती है और फिर धूप से छाया और जैसे यह प्रक्रिया चलती रहती है उसी तरह जीवन की प्रक्रिया शुभ और अशुभ कर्म-बन्ध तथा फल-भोग के साथ चलती रहती है लेकिन इसके पीछे कोई न कोई रहस्य अवश्य ही रहा हुआ है वह क्या है?

क्या वह मनुष्य के अधीन है अथवा क्या मनुष्य को उस रहस्य के अधीन होकर चलना पड़ता है? किसी भी क्रिया से कर्म-बन्ध होता है और कर्म-बन्ध हो गया है तो उसके फल भोग से मनुष्य बच नहीं सकता है। क्रिया के बाद तो एक प्रकार से मनुष्य अधीन-सा बन जाता है लेकिन क्रिया कैसी करनी है या किस रूप से करनी है- यह मनुष्य के अधीन होता है वह आत्म-नियन्त्रण में चले तो अशुभ क्रियाओं से दूर रह सकता है या शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति कर सकता है तथा ऐसी क्रियाएं भी कर सकता है जिनसे कर्मों का क्षय हो सके। लेकिन ये क्रियाएं किसकी प्रेरणा से होती हैं? क्रियाओं का प्रेरक होता है भाव और भाव यह मन का विषय है। मन की अधीनता में सारी प्रवृत्तियां चल रही हैं तो उद्वृत्त मन की क्रियाओं पर कोई रोक नहीं होती है कि वह सदा शुभ भावों में ही रमण करें यह बात मन के निग्रह से हो सकती है कि आत्मा अधिक से अधिक शुभ भावों में रमण करें तथा अशुभ भावों से बचे। अधिक शुभता की प्रक्रिया तब चल सकती है।

लेकिन प्रश्न यह भी है कि क्या मनुष्य इस प्रक्रिया में ही चलता रहेगा अथवा उसका कभी मोक्ष भी हो सकेगा? शुभाशुभ कर्मों के फल भोग की प्रक्रिया कब समाप्त होगी? आत्मा की सम्पूर्ण पकितता कब बन सकेगी? ज्ञानीजनों का अभिमत है कि यदि आत्मा की सम्पूर्ण पकितता चाहिये, मोक्ष की उपलब्धि चाहिये और सदा सर्वदा केलिये वास्तविक

